अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की मासिक पत्रिका

वर्ष : 53 अंक : 8 श्रावण-भाद्रपद वि.सं. 2083 अगस्त, 2026 मूल्य : अठारह रुपये पृष्ठ-28 RNI 43602/77 ISSN No.2581-981x

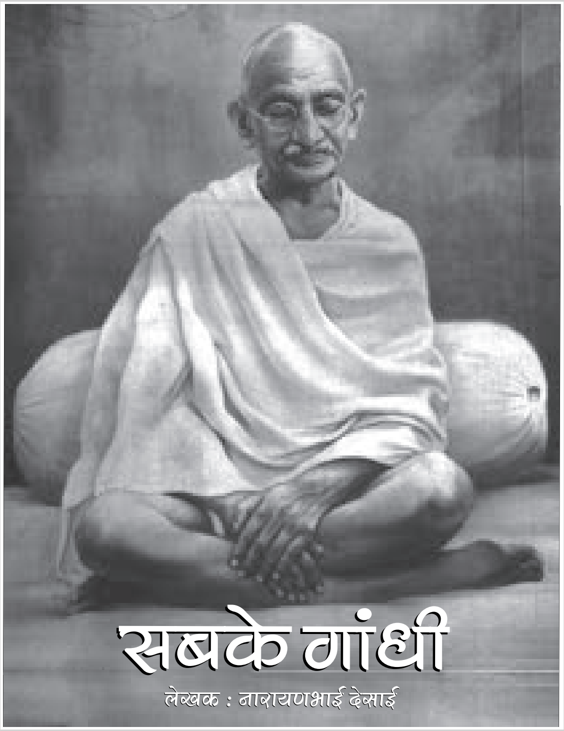

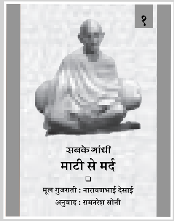

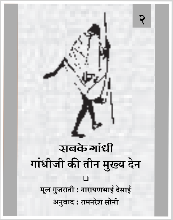

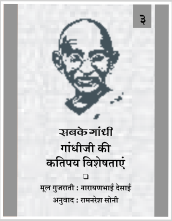

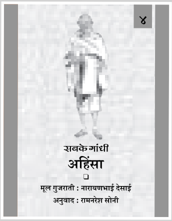

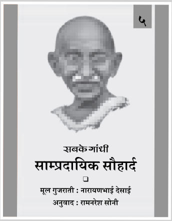

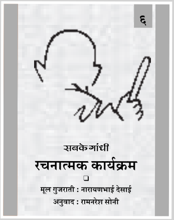

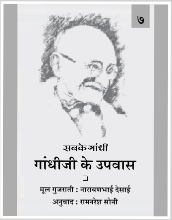

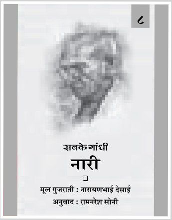

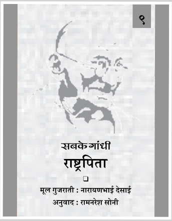

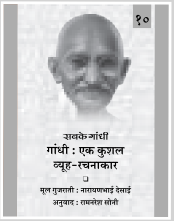

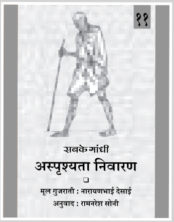

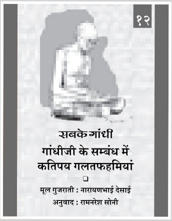

सहयोग राशि के लिए
बैंक विवरण

BANK OF BARODA
Rajasthan Adult Education Association
Branch Name : IDS Ext. Jhalana Jaipur
I.F.S.C. Code : BARB0EXTNEH
(Fifth Character is zero)
Micr Code : 302012030
Acct.No. : 98150100002077

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7–ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर–302004

सबके गांधी

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7–ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर–302004

12 पुस्तकों के एक सैट की सहयोग राशि रुपये 500/– मात्र डाक खर्च रुपये 75/– अलग से देय होगा।

वाणी

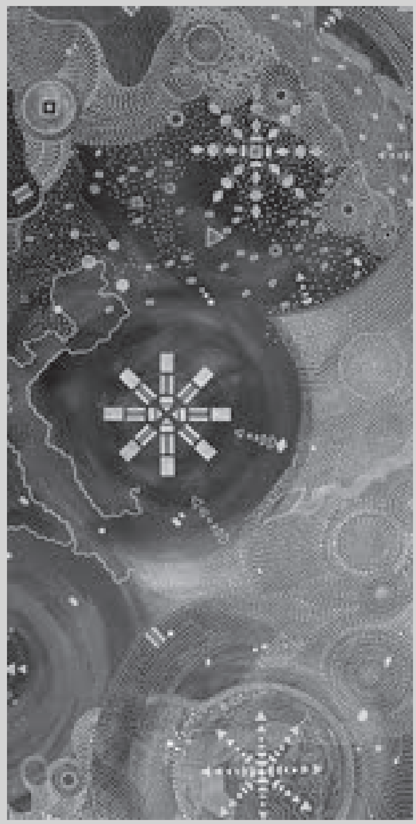

संतोषः परमो लाभः सत्सः परमा गतिः ।
विचारः परमं ज्ञानं शमो हि परमं सुखम् ।।

– योग वशिष्ठ श्लोक **2.16.19**

संतोष सबसे बड़ा लाभ है, अच्छी संगति सबसे सही राह है, तर्क-बुद्धि सच्चा ज्ञान है, और शांति परम आनंद है।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। ऋग्वेद

अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की पत्रिका

वर्ष : 53 अंक : 8 श्रावण-भाद्रपद वि.सं. 2083 अगस्त, 2026 मूल्य : अठारह रुपये

क्र म

वाणी

3. योग वशिष्ठ श्लोक

संपादकीय

5. नये जमाने की चुनौतियां और हमारा सोच

अभिमत

7. समुदायों को सुनेंगे भी तभी कुछ सीखोंगे!
– डॉ. आर.बालासुब्रमण्यम

9. नाम का नहीं काम का महत्व !
– अनुरोध शर्मा

11. भारत की शक्ति उसके शस्त्रों में नहीं संस्कारों में रही है !
– प्रदीप कुमार शर्मा

13. शिक्षा में केवल पहुंच ही काफी नहीं
– के.बी.कोठारी

14. मौन के संगीत को रचना
– गौरव बोड़ा

विमर्श

16. पुनर्जन्म की वैज्ञानिक व्याख्या
– डॉ. श्रीगोपाल काबरा

अभिमत

18. मुक्त अभिव्यक्ति का आभास गहरी संरचनात्मक निर्भरता को छुपाता है।
– देबारती धर

विमर्श

21. इंसान स्वभाव से ही सतर्क होते हैं !
– मनु जोसेफ़

23. एआई लोगों का है, अरबपतियों का नहीं !
– बर्नी सैंडर्स

टिप्पणी

25. उत्तर पुस्तिकओं का डिजिटल मूल्यांकन
– डॉ. लता व्यास

26. समाचार

27. स्मृति शेष

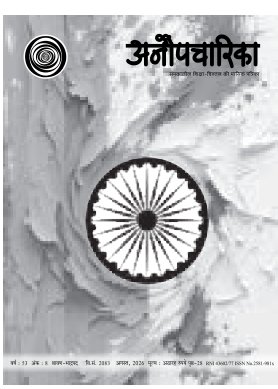

स्वतंत्रता दिवस की शुभकामनाएं

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7-ए, झालाना डूंगरी संस्थान क्षेत्र,
जयपुर-302004
फोन : 2700559, 2706709, 2707677
ई-मेल : raeajaipur@gmail.com
www.raea.in

संपादक :
राजेन्द्र बोड़ा
प्रबंध संपादक :
दिलीप शर्मा

संपादकीय

नये जमाने की चुनौतियां और हमारा सोच

हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती भरा काम है कि जो हुआ है उससे हटकर जो हो सकता है उस पर कैसे हम अपना नज़रिया केंद्रित करें। जो हो चुका है उस काम के लिए तो हम अपेक्षाकृत अच्छी तरह से तैयार हैं, लेकिन जो हो सकता है उस वाले काम के लिए हमारी तैयारी अपर्याप्त हैं।

उच्च शिक्षा के संस्थान, हमारे विश्वविद्यालयों में इतिहास विषय के विभाग और इतिहासकारों की फौज है जो लगातार अतीत को खंगालते रहते हैं, लेकिन बहुत कम भविष्य की तरफ देखते हैं। लोकप्रिय लेखक एच.जी.वेल्स ने 1932 में 'बीबीसी' को दिए अपने संबोधन में इसकी शिकायत की थी। उनकी वार्ता का शीर्षक था 'वांटेड, प्रोफेसर्स ऑफ फोरसाइट' (दूरदर्शिता वाले प्रोफेसरों की आवश्यकता है)। आज भी उनकी टिप्पणी वैध हैं। यह सामाजिक शिक्षा और हमारी कल्पनाशीलता की स्पष्ट विफलता को दर्शाती है।

भविष्य में निश्चितता और आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ने के लिए हमें सामूहिक रूप से पाठ्यक्रमों को बदलते हुए एक नई दिशा में आगे बढ़ना होगा। किन्तु हमारे औपचारिक शिक्षण संस्थान इसे गंभीरता से लेते नज़र नहीं आते हैं। हमारी उच्च शिक्षा व्यवस्था एक ऐसे चौराहे पर खड़ी है, जहां पारंपरिक ढर्रे और भविष्य की अनिश्चितताओं के बीच सीधा टकराव है। दुनिया भर में यह साबित हो चुका है कि यदि विश्वविद्यालय समय के साथ नहीं बदले, तो वे अप्रासंगिक हो जाएंगे। शिक्षा का उद्देश्य केवल डिग्रियां बांटना नहीं, बल्कि आने वाले कल के झंझावातों से निपटने के लिए युवाओं को तैयार करना होना चाहिए। लोग जो अपने बच्चों के भविष्य के लिये बड़ी उम्मीदें रखते हैं, उन्हें इक्कीसवीं सदी के वर्तमान माहौल को समझना होगा। उन्हें यह पता होना चाहिए कि वे कहां जा रहे हैं।

सरकारें, व्यवसाय, शिक्षा और ऐसी ही अन्य संस्थाएं जैसा चलता है वैसा चलने दो की अवधारणा पर काम करती हैं। मगर भविष्य के अध्ययन को हमें एक आवश्यक अनुशासन बनाना पड़ेगा क्योंकि वह हमारे सामने पहले से ही बहुत बड़ी चुनौतियां खड़ी कर रहा है। यह समझना जरूरी है कि भविष्य स्पष्ट रूप से अतीत से बहुत अलग होगा। ऐसे में हम यहां से कहां जायें?

यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि हम भविष्य को कितनी जल्दी एक केंद्रीय और महत्वपूर्ण चिंता के रूप में देखते हैं और हम कितनी जल्दी विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में इक्कीसवीं सदी में भविष्य की सोच को अतीत और वर्तमान के बारे में सोचने की तरह ही स्वीकार्य और सामान्य बनाते हैं। यदि हम सहज रूप से ऐसा नहीं कर पाते हैं तो हमें वह निश्चित

ही कठिन तरीके से करना पड़ेगा क्योंकि इससे अब मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। हमारे सामने आने वाली लगभग सभी बड़ी दुविधाओं का स्थायी समाधान, एक तरह से या किसी अन्य रूप में, इसी में निहित है।

बदलते सामाजिक मूल्य और पारिवारिक संरचना तथा वैश्वीकरण व भौतिकवाद ने हमारे सदियों पुराने सामाजिक मूल्यों और पारिवारिक ढांचों को बुरी तरह प्रभावित किया है। संयुक्त परिवार प्रथा लगभग विलुप्त होने की कगार पर है, जिससे अकेलापन और मनोवैज्ञानिक अलगाव बढ़ रहा है। पाश्चात्य संस्कृति के आकर्षण ने युवा पीढ़ी को अपनी जड़ों से दूर कर दिया है, जिसके परिणामस्वरूप उसमें नैतिक दृढ़ता और संवेदनशीलता कम होती दिख रही है। नये ज़माने की चुनौतियों का समाधान केवल अत्याधुनिक तकनीक अपनाने से नहीं हो जाने वाला है। वह समाधान मानवीय दृष्टिकोण और नैतिक मूल्यों को बनाए रखने में निहित है। डिजिटल साक्षरता आज की सबसे बड़ी जरूरत है वैसे ही जैसी कभी अक्षर ज्ञान हुआ करता था। इसे बढ़ावा देकर ही समाज का हर वर्ग तकनीकी का सुरक्षित उपयोग सुनिश्चित कर सकता है।

बदले जमाने में मीडिया और शासन तंत्र को अपनी विश्वसनीयता और पारदर्शिता बनाए रखनी होगी। यह समय तकनीक का गुलाम बनने का नहीं, बल्कि सूझबूझ के साथ उसका उपयोग करके एक संतुलित, मानवीय और न्यायपूर्ण समाज का निर्माण करने का है। तकनीक और कौशल के नये दौर ने रोजगार के मायने बदल दिए हैं। आज के कई लोकप्रिय करियर आने वाले दशक में पूरी तरह गायब हो सकते हैं। ऐसी हालत में, हमारे विश्वविद्यालयों को अपने पाठ्यक्रम को तुरंत नये सिरे से तैयार करने की आवश्यकता है। कोडिंग, डेटा विश्लेषण और एआई साक्षरता को किसी एक विभाग तक सीमित न रखकर उन्हें हर संकाय का हिस्सा बनाना होगा। इसके साथ ही, व्यावहारिक कौशल को किताबी ज्ञान से ऊपर प्राथमिकता देनी होगी।

भविष्य की चुनौतियां केवल तकनीकी नहीं हैं, वे मानवीय और पर्यावरणीय भी हैं। केवल संगोष्ठियां आयोजित करने से काम नहीं चलेगा। चुनौतियों को इन्हें हर छात्र की सोच का हिस्सा बनाना होगा। शिक्षण संस्थानों को अब केवल बुद्धिमत्ता सूचकांक (आई क्यू) पर नहीं, बल्कि भावनात्मक संवेदनशीलता (ईक्यू) और जीवन जीने के कौशल पर भी ध्यान देना होगा। उच्च शिक्षा में नीतिगत और व्यावहारिक बदलाव अपरिहार्य हैं।

अंतःविषयी दृष्टिकोण अपनाते हुए विज्ञान के छात्र को कला और कला के छात्र को तकनीक समझने की आजादी होनी चाहिए। विश्वविद्यालयों को 'रटने की संस्कृति' से बाहर निकलकर मौलिक अनुसंधान और उद्यमिता का गढ़ बनना होगा। हाइब्रिड और सुलभ शिक्षा आज की जरूरत है, जिसमें डिजिटल माध्यमों के सही उपयोग से उच्च शिक्षा को समाज के अंतिम छोर पर बैठे व्यक्ति तक किफायती दर पर पहुंचाना होगा। समय की पुकार है कि बदलावकी देती से कदमताल मिलाई जाए और नीतियों को कागजों से बाहर लाया जाए। भविष्य की चुनौतियां किसी का इंतजार नहीं करेंगी। यदि हमें अपनी विशाल युवा आबादी को 'जनसांख्यिकीय लाभांश' बनाए रखना है, तो उच्च शिक्षा के ढांचे को लचीला, दूरदर्शी और नये संकट से निबटने के सक्षम बनाना ही होगा। अब समय केवल सोचने का नहीं, बल्कि शिक्षा नीति में व्यावहारिक बदलावों को धरातल पर उतारने का है।❑

समुदायों को सुनेंगे तभी कुछ सीखेंगे!

डॉ. आर. बालासुब्रमण्यम

नीति आयोग के सदस्य का यह आलेख समुदायों के बीच काम करने का सलीका सिखाता है। सं.

मैंने अपने शुरुआती वर्षों में जेनुकुरुबा और बेट्टाकुरुबा समुदायों के बीच हेग्गड़देवनकोटे के जंगलों में काम करते हुए कई गलतियां कीं। कुछ गलतियां अनुभवहीनता की थीं, जैसी कि कोई युवा डॉक्टर ट्राइबल बस्ती में मेडिकल कॉलेज से बाहर कदम रखते ही करता है। लेकिन अधिक परिणामी गलतियां धारणाओं की थीं।

मैं यह विश्वास करके आया था कि मैं समस्याओं को समझता हूं। इससे भी खतरनाक बात यह थी कि मुझे लगता था कि मैं समाधान पहले से जानता हूं। इसमें कई साल लगे, धैर्यपूर्ण सुधार के बाद, जब मैंने यह समझा कि लोगों की सेवा करने से पहले मुझे उनकी सेवा करने के लिए आना होगा।
समुदायों ने मुझे पहला सबक सिखाया - मौन। अनुपस्थिति का मौन नहीं, बल्कि ध्यान का मौन। जब मैं किसी बुजुर्ग के साथ बैठा और अपनी धारणाओं को एक तरफ रखकर, बिना किसी पाठ्यक्रम के तैयार किए, कुछ सुनने लगा, तो मैंने ऐसी चीजें सुनी जो किसी पाठ्यक्रम में नहीं सिखाई जाती।

मैंने भूमि, शरीर, मौसम और जटिल संबंधों के बारे में सदियों के संचित ज्ञान को सुना। मैंने उन समस्याओं के समाधान सुने जिन्हें मैं आयातित ढांचों से हल करने की कोशिश कर रहा था, जिनकी इस मिट्टी में कोई जड़ नहीं थी।

भारत में आज जो कुछ भी विकास कार्य हम कर रहे हैं उसकी नींव में यही है। हमने सेवा देने के लिए विस्तृत व्यवस्थाएं बना ली हैं, लेकिन समुदायों को पहले सुने बिना। सरकारी कार्यक्रम, चाहे कितने भी अच्छे से डिज़ाइन किए गए हों, अगर वे गांवों में खुले सवालों के रूप में पहुंचे - पूरी तरह तैयार जवाबों के रूप में नहीं, बल्कि यह समझने की कोशिश के रूप में कि समुदाय वास्तव में क्या मांग रहे हैं - तो वे बहुत अधिक हासिल कर सकते हैं।
सिविल सोसाइटी संगठन, भले ही वे ज़मीन से कितने करीब हों, अक्सर यही गलती नरम तरीके से दोहराते हैं। समुदाय लाभार्थी बन जाता है, न कि अपने स्वयं के परिवर्तन का प्राथमिक लेखक।

समुदायों के साथ काम करना उन लोगों के साथ काम करने से मौलिक रूप से अलग है जिनके लिए हम काम करते हैं। और यह अंतर सुनने से शुरू होता है। समुदायों के लिए काम करना यह मानने से शुरू होता है कि समाधान समुदाय के पास है, और नियोजक या नीति-निर्माता की भूमिका उसे ग्रहण करने की है।

समुदायों के साथ काम करना इस मान्यता से शुरू होता है कि समुदाय में वह ज्ञान है जो व्यवसायी के पास नहीं है, और कोई स्थायी समाधान उस अंतर्निहित बुद्धिमत्ता से उभरता है, न कि उसे नकार करके। मैंने यह अपनी शुरुआती वर्षों में सीखा, जब स्वामी विवेकानंद युवा आंदोलन में हमने एक अस्पताल बनाया क्योंकि हमारा मानना था कि स्वास्थ्य सेवा की सब तक पहुंच प्राथमिक आवश्यकता है। समुदायों ने हमारा अस्पताल सहन किया, लेकिन हमने उनके खेतों, उनके जंगलों, उनके बच्चों की शिक्षा, और उनकी प्रथागत अधिकारों का धीरे-धीरे क्षरण की ओर राह पकड़ी।

समस्या शायद ही कभी जड़ समस्या होती है, और उसे केवल निरंतर सुनने से ही समझा जा सकता है। जब हमने अंततः समझा कि समुदाय हमें वास्तव में क्या बता रहे थे, बजाय इसके कि हमने क्या तय किया था, तो हमारे हस्तक्षेपों की गुणवत्ता और स्थायित्व पूरी तरह बदल गया।

स्वामी विवेकानंद इस पर स्पष्ट थे, हालांकि उन्होंने इसे अलग तरीके से कहा। उन्होंने लिखा कि भारत के गरीबों को किसी और चीज़ से पहले अपनी गरिमा बहाल करने की ज़रूरत है। कोई सेवा, चाहे कितनी भी उदार हो, यदि वह सच्चे विकास की भावना का उल्लंघन करती है, तो वह गरिमा को कम करती है। सुनना गरिमा की बहाली का पहला कार्य है। यह समुदाय को संदेश देता है कि उनका अनुभव वैध है, उनका ज्ञान सम्मानित है, और उनकी आवाज़ आगे क्या होगा, उसे आकार देगी।

सुनना गरिमा की पुनर्स्थापना का पहला कार्य है। यह समुदाय को यह बताना होता है कि उनका अनुभव वैध है, उनका ज्ञान सम्मानित है।

सबका प्रयास, सबका विश्वास और जन भागीदारी से विकास, की बात एक सच्ची दिशा का संकेत है कि राज्य केवल वितरण करने के बजाय सुनने की ओर बढ़ रहा है। नागरिक-केंद्रित शासन की आकांक्षा इस बात में निहित है कि समुदाय का ज्ञान नीति डिज़ाइन को सूचित करे, न कि केवल पहले से बने मान्य निर्णयों को वैध ठहराए।

यह स्थानीय बुद्धिमत्ता के बारे में रोमांटिक धारणा नहीं है। समुदायों में भी पूर्वाग्रह, आंतरिक पदानुक्रम और अंधेरे धब्बे होते हैं, और किसी भी मानवीय संस्था की तरह, हर व्यक्त राय को बिना आलोचना स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। सुनना मतलब तकनीकी विशेषज्ञता, वित्तीय सहायता और प्रशासनिक अनुभव के साथ खड़े होना है, ताकि विचार-विमर्श की प्रक्रिया में समुदाय के ज्ञान का वैध इनपुट शामिल किया जा सके, न कि केवल निर्णय लेने वाले की भूमिका को पूर्व-निर्धारित करने का।

जब हम सुनते हैं तो क्या बदलता है? यह सिर्फ कार्यक्रमों की गुणवत्ता नहीं बदलती। यह नागरिक और राज्य, समुदाय और उन लोगों के बीच मौलिक संबंध बदलता है जिनकी हम सेवा करते हैं। भागीदारी वास्तविक बन जाती है, जवाबदेही संभव हो जाती है, क्योंकि समुदायों को सुना जाता है। गलतियां होने पर बोलने वाले समुदायों से डरना नहीं चाहिए। और वे समाधान जो समुदायों के अंदर से उभरते हैं, उनमें बाहरी रूप से थोपे गए कार्यक्रमों की तुलना में स्थायित्व की क्षमता होती है। चार दशकों का काम मुझे सिखाता है कि विकास का सबसे क्रांतिकारी कौशल कोई विश्लेषणात्मक कौशल, सिविल सेवक या नीति-निर्माता का कौशल नहीं है, बल्कि समुदाय में पूरी तरह से मौजूद होने, अपनी विशेषज्ञता की मोहकता को एक तरफ रखने और सीखने की आवश्यकता के लिए खुले रहने की क्षमता है।

मैंने समुदायों में जो हर स्थायी परिवर्तन देखा है, वह ईमानदार, बिना जल्दबाजी के सुनने के साथ शुरू हुआ है। समुदाय हमेशा बोल रहे थे। हमें बस उन्हें सुनना सीखना था।❑

नाम का नहीं काम का महत्व!

अनुरोध शर्मा

प्रचार की अंधी दौड़ के वर्तमान समय में लेखक बता रहे हैं कि अपने काम में माहिर महान भारतीय रचनाकार पुरातन काल से ही अपने बारे में कुछ कहने में हमेशा संकोची रहे हैं। सं.

बहुत–बहुत पीछे चलते हैं, ईसा के पैदा होने से भी सैकड़ों साल पहले। अफगानिस्तान के हिंदुकुश पर्वतों की शृंखला से एक नदी निकलती है, तब इसका नाम 'कुभा' हुआ करता था। लगभग सात सौ किलोमीटर लम्बी यात्रा करके ये अटक के पास (अब पाकिस्तान में) सिन्धु में मिल जाती थी। गंगा से भी पहले हम सिन्धु के नाम से पहचाने गए हैं। पूरी दुनिया ने हमको सिन्धु से ही जाना है। सिन्धु ने ही हमें पाला है, हमें बड़ा किया है। हमारी परम्परा में कुदरत हमारी जननी ही रही है। इसी कुभा और सिन्धु के संगम से कुछ दूरी पर एक गांव हुआ करता था, शलातुर। चीन का यात्री ह्वेनसांग जब भारत आया तो उसने ख़ास तौर पर शलातुर गांव की यात्रा की। वह ईसा से छह सौ साल बाद आया था और ईसा से सात सौ बरस पहले पैदा हुए एक लड़के के बारे में जानने के लिए वह इस गांव में पहुंचा था।

इस गांव के लड़के ने संस्कृत व्याकरण के प्राचीन और महान ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' का निर्माण किया था। उस लड़के का नाम था पाणिनि।

शलातुर गांव के इस लड़के ने खूब मेहनत की होगी, यात्राएं की होंगी, शोध किया होगा, अपने ज्ञान परम्परा के पूर्वजों का लिखा पढ़ा होगा तब जाकर उसने ये सब संकलित किया होगा। अष्टाध्यायी में चौदह सूत्र हैं, जिनमें संस्कृत की वर्णमाला गिनाई गई है। इन्हें 'प्रत्याहार सूत्र' कहा जाता है। प्रत्याहार का अर्थ होता है संक्षेप में प्रस्तुत करना। अब इन सूत्रों के बारे में कहा जाता है कि ये नटराज शिव से पाणिनि को मिले। अपने नृत्य के बाद जब महादेव ने अपने डमरू को चौदह बार बजाया तो उनकी आराधना कर रहे ऋषियों ने तो तत्वज्ञान पाया और पाणिनि को मिले ये चौदह प्रत्याहार सूत्र। ऐसी कथा कही जाती है। अब ये बात तो ज़ाहिर है कि डमरू बजाने से व्याकरण नहीं बनती चाहे डमरू बजाने वाले स्वयं महादेव ही क्यूं न हों। डमरू बजाने से संगीत रचा जा सकता है, नृत्य की नई भाव भंगिमाएं खोजी जा सकती हैं लेकिन व्याकरण, ये संभव नहीं है।

तो फिर ऐसा क्यूं कहा जाता है? और ऐसा सिर्फ व्याकरण में ही नहीं है। बहुत सी कलाएं हैं जो अंततः महादेव से जाकर जुड़ती हैं। नृत्य, संगीत, आयुर्वेद, योग, युद्ध आदि कलाओं को रचने वाले यही कहते आये हैं कि ये ज्ञान सर्वप्रथम महादेव ने दिया। रामायण के बारे में वाल्मीकि कहते हैं कि सबसे पहले ये कथा शिव ने पार्वती को सुनाई और वहां उसे एक कौए ने भी सुन ली।

ऋग्वेद के दसवें मंडल का एक बहुत प्रसिद्ध मंत्र समूह है जिसे हम 'नासदीय सूक्त' के नाम से जानते हैं। अपने ज़माने के हिसाब से इसमें बहुत आधुनिक और तार्किक सोच झलकती

है, गहरी जिज्ञासा है, और इनसे भी बड़ी बात कि न जानने का स्वीकार्य मौजूद है। इसमें पहले तो प्रश्न किये गए हैं कि इस सृष्टि को किसने रचा? सृष्टि से पहले क्या था? अगर कुछ नहीं था तो जो था वो सब किसने ढका हुआ था? क्या कोई इन सवालों के जवाब जानता है? फिर इनके रचनाकार कहते हैं कि हो सकता है कि देवता जानते हों, या सृष्टि का अध्यक्ष जानता होगा। उसे तो पता ही होगा। पर आगे बढ़कर फिर रचनाकार खुद ही यह कहते हुए इस संभावना को नकार देते हैं कि हो सकता है उसे भी न पता हो।

ढोल बजाकर जिन वेदों को दुनिया के समस्त ज्ञान का स्रोत बताया जाता है, उन वेदों के रचनाकारों को कम से कम इतनी समझ थी और उनमें इतना आत्मविश्वास था कि उन्होंने कह दिया कि हम नहीं जानते, और हम ही क्या हमारे देवता भी नहीं जानते। अज्ञान का स्वीकार ज्ञान की पहली सीढ़ी है। सब कुछ जानने का दावा परम मूर्ख ही करते हैं।

नासदीय सूक्त के रचनाकार कौन हैं? हमें नहीं पता। वेदों को किसने रचा? हम नहीं जानते। लोग कहते हैं वो अपौरुषेय हैं, प्रकट हुए हैं, पर ऐसा नहीं होता। प्रकट कुछ नहीं होता। लम्बे शोध और गहरी साधना के बाद ही कुछ रचा जाता है। इन्हें रचने से पहले बड़ा लम्बा विमर्श हुआ होगा। फिर भी हम नहीं जानते कि वेदों को किसने रचा? लिखने वालों ने सब लिखा, बस अपनी बात करना भूल गए या यूं कहें कि जानबूझकर अपनी उपेक्षा की। अपने बारे में बात करना शायद किसी को पसंद नहीं रहा।

हम नहीं जानते कि शून्य का आविष्कार दरअसल किसने किया। कुछ कहते हैं आर्यभट्ट ने और कुछ शून्य को सलीके से परिभाषित करने का श्रेय ब्रह्मगुप्त को देते हैं। पर ऐसा भी कहा जाता है कि आर्यभट्ट से पहले भी शून्य का ज़िक्र रहा था। किसने आविष्कार किया, ये पूरे यकीन से नहीं कहा जा सकता। जो भी हो शून्य का विचार तो परंपरा में पहले से मौजूद था। दर्शन में इसकी भूमिका मौजूद है। 'कुछ नहीं' का विचार पहले से अस्तित्व में है। बस इस विचार को किसी को गणित में बांधना था, जिसने भी बांधा उसका लाख-लाख शुक्रिया। वो चाहे ब्रह्मगुप्त हो, आर्यभट्ट हो या उनसे भी पहले कोई और।

किसी गणितज्ञ ने अपने बारे में ज़्यादा बात नहीं की। बहुत हुआ तो ले-देकर एक-आध श्लोक लिख दिया कि मैं फलां गांव का हूं या मेरे माता-पिता का नाम ये है। इतना कहकर शायद उन पर झिझक हावी हो जाती है कि अपने बारे में बात क्यूं की जाए। जब कहने को काम की इतनी बातें हैं तो अपनी डफली क्यूं बजाई जाए।

एक और हैं, लीलावती के पिता और भारतीय गणित के पितामह के नाम से जाने गए भास्कराचार्य। गणित के सूत्रों पर रचे गए श्लोकों में वो बार-बार लीलावती को संबोधित करते नज़र आते हैं, ओ बेटी लीलावती! जानती हो दो समान संख्याओं का गुणन 'वर्ग' कहलाता है। और इस तरह वो सूत्रों पर सूत्र रचते जाते हैं। अपनी बेटी से एक पिता का संवाद तो वैसे भी दुनिया की सबसे खूबसूरत और मुकम्मल कविताओं में से एक होता है। और जब इसमें गणित का छींटा पड़ जाए तो एक गणितज्ञ ही आपको बता सकता है कि उसे किस स्तर का आनंद आता है। पर भास्कराचार्य के यहां भी वही किस्सा है। वे अपने बारे में बहुत कम लिखते हैं।

अपनी जीवनी लिखने की आदत तब के लोगों में नहीं थी। इतिहास लिखने में किसी को कोई रूचि नहीं, सब केवल सिद्धांतों की बातें करते रहे हैं। कला, साहित्य, दर्शन - लेकिन इतिहास बिल्कुल नहीं।

ओशो का तो कहना है कि अच्छा है ये सब तारीखों के फेर में नहीं पड़े। क्यूं तुम्हे जानना है कि फलां कौनसी तारीख़ को पैदा हुआ और कब मरा। भारत विचारों में डूबा रहा और गिनती के फेर में नहीं पड़ा, तो अच्छा ही हुआ।

वैसे भी मनुष्य अपने काम से जाना जाता है न कि इस बात से कि वो कहां और किस तारीख़ को पैदा हुआ। इस विचार पर तब के रचनात्मक लोग बहुत यकीन करते रहे होंगे। शायद पूरे समाज की सोच इस तरह की ही रही होगी और यही वजह है कि वे कभी अपनी रचना का श्रेय महादेव को दे देते हैं, कभी ब्रह्मा को, कभी 'व्यास' नामक पदवी को।

उस परंपरा के या उस तरह के लोगों के बीज तो अब भी बाकी हैं जो अपना प्रचार करने को नीचा मानते हैं। पूरी ईमानदारी के साथ वे चाहते हैं कि उन्हें उनके काम से जाना जाए। हमने काम किया है आप उसे देखिए, पसंद आये तो तारीफ़ कीजिये, नहीं तो गाली भी दीजिये। सब सर माथे होगा, पर हमसे ये प्रचार मत करवाइए।

सच्ची बात ये है कि वो ज़माना कुछ और था, वो लोग कुछ और थे जो अपने काम को अपने नाम से कहीं ज़्यादा महत्व देते थे। अब ज़माना प्रचार का है। समाज भी ऐसा है और इसको चलाने वाले भी ऐसे। ❑

भारत की शक्ति उसके शस्त्रों में नहीं संस्कारों में रही है!

❑

❑
प्रदीप कुमार शर्मा

उत्तराखण्ड के देवप्रयाग में पतंजलि गुरुकुलम् में इतिहास के प्रवक्ता कह रहे हैं कि भारत का भविष्य सरकारों पर नहीं बल्कि यहां की शिक्षा, आचार्य और परिवार पर निर्भर करेगा। सं.

ऋग्वेद का एक श्लोक है 'आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु हवश्वतः। अर्थात संसार के सभी दिशाओं से कल्याणकारी विचार हमारे पास आएं। यह मंत्र बताता है कि भारत की संस्कृति कभी संकीर्ण नहीं रही। उसने ज्ञान को अपनाया, सत्य को स्वीकार किया और मानवता के कल्याण को अपना उद्देश्य बनाया। इसी उदार दृष्टिकोण ने भारत को विश्वगुरु बनाया था।

एक समय था जब संसार के विभिन्न देशों से विद्यार्थी भारत की ज्ञानभूमि में शिक्षा प्राप्त करने आते थे। गुरुकुलों में शिक्षा का उद्देश्य केवल जीविका कमाना नहीं था। शिक्षा का लक्ष्य था चरित्र निर्माण, आत्मसंयम, कर्तव्यबोध और राष्ट्रधर्म। आचार्य केवल विषय विशेषज्ञ नहीं होते थे; वे जीवन के निर्माता होते थे। उनका लक्ष्य विद्यार्थियों को विद्वान बनाना नहीं, बल्कि श्रेष्ठ मनुष्य बनाना होता था।

चाणक्य जैसे आचार्यों ने राष्ट्र की दिशा बदली। उन्होंने केवल राजनीति नहीं सिखाई, बल्कि राष्ट्रहित को सर्वोपरि रखने की शिक्षा दी। आदि शंकराचार्य ने सम्पूर्ण भारत को एक सांस्कृतिक सूत्र में बांधने का कार्य कीयस्स। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने समाज को अंधविश्वासों से मुक्त करने और सत्य की ओर लौटने का आह्वान किया। इन महापुरुषों का उद्देश्य व्यक्तिगत प्रसिद्धि नहीं, बल्कि समाज का उत्थान था। भारत की महानता केवल उसके विद्वानों के कारण नहीं थी; उसका गौरव उसके वीरों और त्यागियों के कारण भी था।

इतिहास केवल वीर पुरुषों की कथाओं तक सीमित नहीं है। भारतीय नारी ने भी इस सभ्यता के निर्माण में अद्वितीय योगदान दिया। गार्गी और मैत्रेयी जैसी विदुषियों ने ज्ञान की परंपरा को समृद्ध किया। भारत की शक्ति उसके शस्त्रों में नहीं, बल्कि उसके संस्कारों में थी।

किन्तु आज का दृश्य अनेक प्रश्न खडे करता है। आधुनिकता और तकनीकी विकास ने जीवन को सुविधाजनक बनाया है, परंतु क्या उसने जीवन को सार्थक भी बनाया है? आज हमारे पास मोबाइल हैं, इंटरनेट है, कृत्रिम बुद्धिमता है, भौतिक साधन हैं, परंतु क्या हमारे पास वह चरित्र, वह आत्मसंयम और वह सामाजिक चेतना है जिसने भारत को महान बनाया था? आज का युवा अत्यंत प्रतिभाशाली है, परंतु उसका एक बडा वर्ग अपने इतिहास और संस्कृति से अपरिचित है। उसे विदेशी मनोरंजन जगत के

कलाकारों के नाम ज्ञात हैं, लेकिन अपने राष्ट्रनिर्माताओं और महापपुरुषों के बारे में सीमित जानकारी है। वह आधुनिक तकनीक का उपयोग करना जानता है, परंतु कई बार अपने सांस्कृतिक मूल्यों का महत्व नहीं समझता। यह स्थिति केवल जानकारी की कमी नहीं, बल्कि सांस्कृतिक दूरी का संकेत है। भौतिकवाद का प्रभाव भी तेजी से बढा है। सफलता का अर्थ आज अनेक लोगों के लिये केवल धन, पद और बाहरी वैभव रह गया है। चरित्र, सत्यनिष्ठा और सामाजिक उत्तरदायित्व जैसे मूल्य पीछे छूटते दिखाई देते हैं।

हमारे शास्त्र कहते हैं ˉ न चोरहाहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्र्यं न च भारकारि। व्यये कृते वर्धत एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्।। अर्थात विद्या ऐसा धन है जिसे न चोर चुरा सकता है, न राजा छीन सकता है और न ही वह बांटने से कम होता है। वह तो निरंतर बढता ही है।

आज हम ज्ञान की अपेक्षा सूचना को अधिक महत्व देने लगे हैं। शिक्षा का उद्देश्य कई बार केवल नौकरी और आर्थिक सफलता तक सीमित होकर रह गया है। परिणामस्वरूप समाज में डिग्रियां बढ रही हैं, परंतु चरित्र का संकट भी बढ रहा है। परिवार, जो भारतीय संस्कृति की सबसे बडी शक्ति था, वह भी अनेक चुनौतियों का सामना कर रहा है। संयुक्त परिवार टूट रहे हैं, पीढ़ियों के बीच संवाद कम हो रहा है, बुजुर्गों का सम्मान घट रहा है। जिन माता-पिता ने अपने बच्चों के लिये जीवन समर्पित कर दिया, वही अनेक बार उपेक्षा और अकेलेपन का जीवन जीने को विवश दिखाई देते हैं।
तैत्तिरीयोपनिषद् कहता हैं: मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अर्थात माता, पिता और आचार्य को देवतुल्य मानो। लेकिन आज जिस समाज में माता-पिता का सम्मान कम होने लगे, वहां संस्कारों का क्षय होना स्वाभाविक है। पति-पत्नी संबंध, जिन्हें भारतीय संस्कृति ने सात जन्मों का पवित्र बंधन माना, वे भी अनेक प्रकार की चुनौतियों से घिरे हुए हैं। तलाक की बढती घटनाएं, परिवार विघटन और मानसिक तनाव इस बात का संकेत हैं कि कहीं न कहीं हमने संबंधों की आत्मा को खो दिया है। आधुनिकता का अर्थ संबंधों को तोडना नहीं, बल्कि उन्हें अधिक परिपक्व बनाना होना चाहिए था।

युवाओं के सामने एक और गंभीर चुनौती नशे और डिजिटल लत की है। मोबाइल और इंटरनेट ज्ञान के साधन हैं, परंतु जब वे जीवन पर नियंत्रण स्थापित कर लेते हैं, तब वे विकास के बजाय पतन का कारण बन जाते हैं। अनेक युवा अपनी ऊर्जा और समय को ऐसे कार्यों में कर रहे हैं जो उनके व्यक्तित्व और भविष्य दोनों को कमजोर करते हैं।

भारत को आज ऐसे आचार्य चाहिए जो शिक्षा को पुनः संस्कारों से जोड सकें। ऐसे शिक्षक चाहिए जो विद्यार्थियों को केवल रोजगार नहीं, बल्कि जीवन का उद्देश्य भी सिखाएं। ऐसे नेता चाहिए जो सत्ता को सेवा का माध्यम समझें। ऐसे समाज-सुधारक चाहिये जो समाज को बांटने के बजाय जोडें। ऐसे माता-पिता चाहिए जो बच्चों को केवल सुविधाएं नहीं, बल्कि संस्कार भी दें। और सबसे बढकर ऐसे युवा चाहिए जो आधुनिक भी हों और भारतीय भी। भारत का भष्टवष्ट्य केवल सरकारें नहीं बनाएँगी। भारत का भविष्य केवल सरकारें नहीं बनाएंगी। भारत का भविष्य उसके विद्यालय, उसके परिवार, उसके आचार्य और उसके युवा मिलकर बनाएंगे।

भारत को आज नए महापुरुषों की प्रतीक्षा नहीं है; भारत को ऐसे नागरिकों की आवश्यकता है जो स्वयं महापुरुषों के आदर्श अपने जीवन में उतार सकें । यही भारत के नवजागरण का मार्ग है, यही उसके उज्ज्वल भविष्य की आधारशिला है।❑

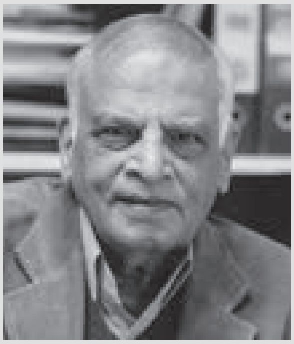

❑

के. बी. कोठारी

शिक्षा पर केंद्रित एक प्रमुख गैर–सरकारी संगठन प्रथम राजस्थान के प्रबंध न्यासी, यूनिसेफ के पूर्व नीति योजनाकार और एक प्रख्यात शिक्षा विशेषज्ञ, जो राज्य भर में जमीनी स्तर पर शिक्षा और साक्षरता सुधार की पहलों का नेतृत्व करते हैं।

शिक्षा में केवल पहुंच ही काफी नहीं

❑

बच्चों का विद्यालय में होना महत्वपूर्ण है, लेकिन उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है कि वे कक्षा में क्या और कैसे सीख रहे हैं।

लैंग्वेज एंड लर्निंग फ़ाउंडेशन (एलएलएफ) और सीएमएफ द्वारा, टाटा ट्रस्ट्स एवं आरएससीईआरटी के सहयोग से जारी 'राजस्थान शिक्षण–अधिगम प्रक्रियाओं का सर्वेक्षण (टीएलपीएस) 2025रिपोर्ट' प्रारम्भिक कक्षाओं में शिक्षण–अधिगम की वास्तविक स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है।

रिपोर्ट के अनुसार, 79 प्रतिशत कक्षाओं में शिक्षण सामग्री उपलब्ध थी, लेकिन केवल 17 प्रतिशत समय ही ऐसी गतिविधियों पर व्यतीत हुआ जिनमें बच्चों की सक्रिय भागीदारी रही। वहीं 67 प्रतिशत समय शिक्षक–आधारित गतिविधियों में लगा।

ये निष्कर्ष स्पष्ट संकेत देते हैं कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए केवल नामांकन और आधारभूत सुविधाएं पर्याप्त नहीं हैं। आवश्यकता ऐसी कक्षाओं की है जहां बच्चे सक्रिय रूप से सीखें, प्रश्न पूछें, विचार करें और अपनी सीखने की प्रक्रिया में सहभागी बनें।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 और निपुण भारत मिशन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए छात्र–केंद्रित शिक्षण, नियमित अधिगम आकलन तथा बच्चों की आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षण पद्धतियों को और सशक्त बनाने की आवश्यकता है।

आइए, हम सब मिलकर शिक्षा में केवल पहुंच नहीं, बल्कि सीखने की गुणवत्ता को भी सुनिश्चित करें, ताकि हर बच्चा अपनी पूरी क्षमता तक पहुँच सके।❑

❑
गौरव बोड़ा

मौन के संगीत को रचना

संगीत रूहानी होता है। धुनें हमें तमाम इंसानी जज़्बातों का एहसास कराती हैं। संगीत के शौक़ीन तो इसकी तुलना ऊपरवाले से करते हैं, जो बेदिल इंसान में भी जज्बात जगा दे...

मगर, क्या आपने कभी ख़ामोश संगीत या साइलेंट म्यूज़िक'' के बारे में सुना है? आप यक़ीनन ख़ामोश संगीत के ख़्याल को हंसी में उड़ा देंगे। मगर, ये भी एक चलन है, जहां लोग ख़ामोशी की धुनें सुनना पसंद करते हैं।

वैसे ये चलन नया बिल्कुल नहीं, क़रीब 80 साल पुराना है। बात 1941 की है, जब अमरीकी संगीतकार, रेमंड स्कॉट ने न्यूयॉर्क के मशहूर ब्राडवे थिएटर में 13 साज़ों वाले ऑरकेस्ट्रा के साथ ख़ामोश संगीत की महफ़िल सजाई थी। इसमें केवल ड्रम की हल्की आवाज़ और बास ध्वनि की हल्की सी थाप के सिवा सिर्फ़ सन्नाटा था।

रेमंड स्कॉट की इस कोशिश की लोगों ने ख़ूब खिल्ली उड़ाई थी। लोग महफ़िल में बैठे-बैठे ही हंस रहे थे, उन्हें लग रहा था कि शायद, संगीतकार रेमंड, उनके साथ कोई मज़ाक़ कर रहे हैं। 'टाइम' मैग्ज़ीन ने लिखा कि ये ख़ामोश संगीत, बहरे लोगों के कानों से टकरा रहा था, जिन्हें शायद इसकी अहमियत का अंदाज़ा नहीं था।

रेमंड स्कॉट का वो शो तो शायद, वक़्त से बहुत पहले का था. मगर, आज साइलेंट म्यूज़िक'' का ज़माना आ चुका है। बल्कि काफ़ी पहले ही आ चुका था।

1952 में मशहूर अमरीकी संगीतकार जॉन केज ने भी अपनी मशहूर धुन 4'33'' पेश की थी। जॉन का कहना था कि किसी भी संगीतकार को कोई धुन ज़बरदस्ती नहीं बनानी चाहिए। ये इतना इंक़िलाबी ख़याल था कि ख़ुद जॉन केज की मां ने इसे अपने बेटे की सनक करार दिया था। मगर, वो ग़लत साबित हुईं।

ख़ामोश संगीत या साइलेंट म्यूज़िक'' का विचार, कई मशहूर लोगों को आ रहा था। जॉन लेनन से लेकर योको ओनो, कोर्न, सिगुर रॉस तक सबने साइलेंट म्यूज़िक'' की धुन बनाने की कोशिश की। यहां तक कि हिप हॉप ग्रुप 'स्लम विलेज' ने भी कुछ साइलेंट म्यूज़िक'' की धुनें तैयार कीं।

संगीत के बारे में लिखने-पढ़ने, कहने-सुनने वालों को इस ख़ामोश संगीत का ख़याल बहुत चुनौती भरा लगता है। आख़िर, जिस एहसास की बुनियाद ही ध्वनि हो, उसे ख़ामोशी से कैसे जगाया जा सकता है?

वैसे दुनिया भर में साइलेंट म्यूज़िक'' की जो भी धुनें तैयार हुईं, जो भी कोशिशें हुईं, उन्हें अधिकतर शोहरत हासिल करने की तिकड़म ही माना गया। जैसे ''बेस्ट ऑफ मार्सेल मार्सियो''। इस रिकॉर्डिंग में सिर्फ़ सुनने वालों की तारीफ़ की ही आवाज़ है। 19-19 मिनट की दो रिकॉर्ड में है श्रोताओं की तारीफ़ की आवाज़ और ख़ामोशी ही है। लोगों ने इसे सिर्फ़ मज़ाक़ समझा।

इसी तरह, ''द विट एंड विज़डम ऑफ रोनाल्ड रीगन'' के रिकॉर्ड भी बाज़ार में आए तो उनमें संगीत की कोई धुन नहीं थी। महज़ कुछ चुनिंदा आवाज़ें और साथ में था तो सिर्फ़ सन्नाटा। इसे लोगों ने हाथों-हाथ

रेमंड स्कॉट

लिया। स्टिफ़ रिकॉर्ड्र्स की इस पेशकश की तीस हज़ार प्रतियां बिकीं।

बहुत से सच, ऐसे ही हंसी-हंसी में कह दिये जाते हैं। जैसे साल 2014 में बैंड वुल्फपेक ने साइलेंट म्यूज़िक'' के दस ट्रैक बाज़ार में उतारे। बैंड ने लोगों से कहा कि वो इन्हें सोते वक़्त सुनें। इस रिकॉर्ड का मक़सद था कि इसकी कमाई से बैंड अपने टूर के लिए पैसे जुटा ले। बैंड अपनी पैसे की दिक़्क़त से जनता को रूबरू कराना चाहता था। इसमें वो कामबाय भी रहा। जॉन केज की ख़ामोश धुन 4'33'' भी, टेलीफ़ोन लाइन से लेकर, रेलवे स्टेशन और लिफ्ट लॉबी में बजने वाले वाहियात संगीत के विरोध के तौर पर तैयार की गई थी। अमरीका में चालीस और पचास के दशक में लोग सार्वजनिक ठिकानों पर बजने वाली ऐसे संगीत से इतने आजिज़ आ चुके थे कि उन्होंने इस पर पाबंदी लगाने की मांग की थी। मामला अमरीकी सुप्रीम कोर्ट तक गया था। इसी के जवाब में जॉन केज ने ख़ामोश संगीत की ये धुन तैयार की थी।

जॉन केज का मानना था कि सन्नाटे का मतलब बेआवाज़ होना या ख़ामोशी नहीं, ये अपने अंदर की आवाज़ सुनने की कोशिश है। रगों में दौड़ते लहू की आवाज़, दिमाग़ में मचे शोर की आवाज़।

जॉन केज की धुन 4'33'', किसी साज़ से निकली आवाज़ नहीं, बल्कि माहौल में ख़ुद-ब-ख़ुद गूंजती आवाज़ों का संग्रह था। ये बताने की कोशिश थी कि हर आवाज़ अपने आप में एक धुन है।

तब से इस धुन का कई बार इस्तेमाल हो चुका है। आज दुनिया के तमाम हिस्सों में इस धुन की मदद से

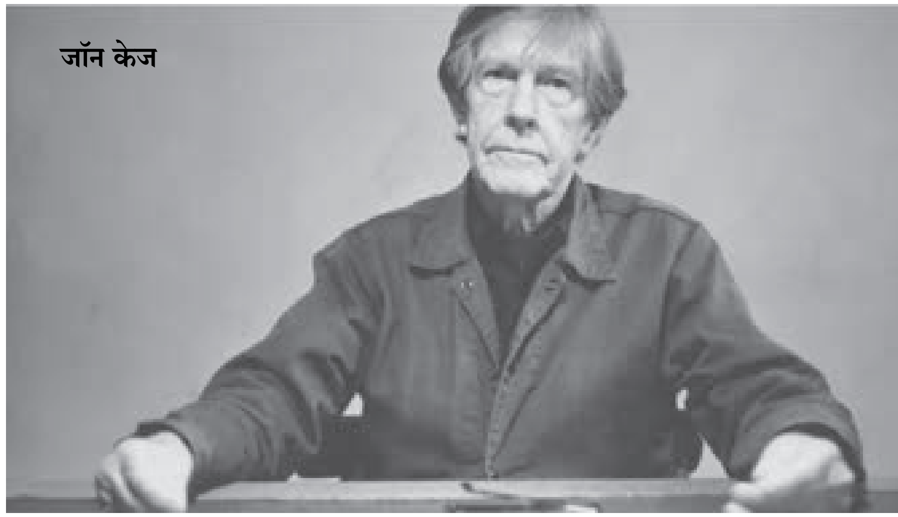

जॉन केज

आज के दौर के तनाव से निपटने की कोशिशें हो रही है। शोर-गुल के बजाय ख़ामोशी से दिल बहलाने की कोशिश हो रही है।

जैसे हम किसी के गुज़र जाने पर दो मिनट का मौन रखते हैं। बहुत से संगीतकारों ने भी दर्द को ऐसे ही साइलेंट म्यूज़िक'' की धुनों में पिरोया है। जैसे जॉन लेनन और योको ओनो की ''टू मिनट्स साइलेंस'' या ''अनफिनिश्ड म्यूज़िक नंबर 2:लाइफ विद द लायंस''। लोग कहते हैं कि ये 1968 में योको योनो के गर्भपात से हुए दर्द की याद में था। इसी तरह कोर्न ने अपने अलबम ''फॉलो द लीडर'' में 12 सेकंड का ख़ामोश ट्रैक जोड़ा था। ये मौत के आगोश में पड़े उनके एक प्रशंसक को समर्पित था।

कोई भी ख़ामोश धुन, बाक़ी संगीतमय आवाज़ों की तरफ़ ध्यान खींचने का काम भी करती है। बढ़िया धुन के बीच में अगर ख़ामोशी होगी तो, सुनने वाले का ध्यान, उस ख़ूबसूरत धुन की तरफ़ जाएगा। वो उसको सुनने के लिए बेताब होगा।

इसी तरह ये ख़ामोश संगीत या साइलेंट म्यूज़िक'' हमें संगीतकार के किसी दर्द का एहसास कराएगा। किसी ख़ास राजनैतिक मसले पर हमारे जज़्बातो को जगाएगा।

ऐसी स्थिति में क्या साइलेंट म्यूज़िक'' को संगीत माना जाए?

इंग्लैंड की मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी के जूलियन डॉड ऐसा नहीं मानते। वो कहते हैं कि संगीत की बुनियाद ही आवाज़ है। बिना आवाज़ की कोई भी चीज़, संगीत नहीं कही जा सकती। किसी भी शोर को धुन मानने के लिए ज़रूरी है कि उसमें लय, ताल, सुर हों।

जूलियन का मानना है कि ख़ामोश संगीत या साइलेंट म्यूज़िक'' को संगीत के बजाय एक आर्ट कहना बेहतर होगा। हालांकि वो ये भी कहते हैं कि नाम में क्या धरा है। ये संगीत है या नहीं, ये बहस ही बेमानी है। ख़ामोश संगीत की वजह से हमें पारंपरिक संगीत की धुनों की अहमियत का एहसास होता है।

ख़ामोश संगीत को लेकर छिड़ी बहस से एक बात जरूर साफ़ होती है कि कई बार आपको अपनी बात कहने के लिए, शोर मचाना ज़रूरी नहीं होता। आपकी ख़ामोशी भी आपके एहसास बयां कर जाती है, और बड़े ताक़तवर तरीक़े से। ❑

पुनर्जन्म की वैज्ञानिक व्याख्या

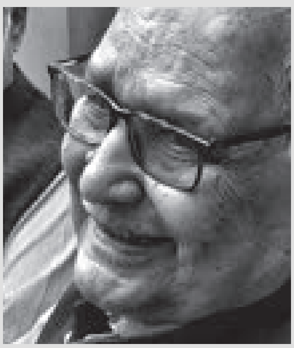

डॉ. श्रीगोपाल काबरा

चिकित्सा और विधि, दोनों क्षेत्रों में योग्यता प्राप्त मेडिकल एथिक्स, मेडिकल ऑडिट और फोरेंसिक-लीगल मेडिकल में विशेषज्ञ पुनर्जन्म की आधुनिक वैज्ञानिक व्याख्या कर रहे हैं। सं.

केवल पुरातन भारतीय दर्शन में पुनर्जन्म की अवधारणा है। दुनिया की अन्य किसी आस्था में पुनर्जन्म की ऐसी अवधारणा नहीं मिलती। हजारों वर्षों पहले पूरब के मनीषियों के विचार में यह कैसे आया, इसे जानने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है। पुनर्जन्म के बारे में उन्होंने जो अवधारणा दी उस पर आस्था रखते हुए काल के विराट अंतराल के बाद लोक ने उसकी जो अपनी व्याख्याएं की वह अलौकिकता का पुट लिये हुए थीं। आधुनिक विज्ञान के तर्कों से उसे समझने की उलझन में कोई नहीं पड़ा। लेकिन अब हम इसकी प्रमाण सहित वैज्ञानिक व्याख्या कर सकते हैं।

आधुनिक विज्ञान ने अनुवांशिकी क्षेत्र में जबरदस्त प्रगति की है और नये चिकित्सकीय अनुसंधानों ने जन्मजात या आनुवंशिक रोगों से छुटकारे के उपाय हमें दिए हैं। आधुनिक विज्ञान की प्रगति से मिली नई जानकारियों के आधार पर पुनर्जन्म की पुरातन अवधारणा को नये वैज्ञानिक परिपेक्ष्य में देखा और समझा जा सकता है।

इतना तो सभी पहले भी जानते थे कि शिशु का जन्म पुरुष के वीर्य तथा स्त्री के डिंब के मिलन से बनता है। चिकित्सा विज्ञान जानता है कि मां की जनन कोशिका – ओवम और पिता की जनन कोषिका – शुक्राणु के मिलन से जो नई कोशिका जायगोट बनती है उसमें मां और पिता दोनो के जीन्स (वंषाणु) उपस्थित होते हैं। यही एक कोशिका 'जायगोट' बाद में करोड़ों-अरबो कोशिकाओं परिवर्तित हो मानव शरीर का निर्माण करती है। विज्ञान ने यह भी जान लिया है कि मानव के शरीर की प्रत्येक कोषिका में माता-पिता का अनुवांषिक रूप मौजूद होता हैं। इसका अर्थ हुआ कि हर कोशिका में माता-पिता मौजूद होते हैं क्योंकि वह उनके वंषाणुओं से ही बनती है।

'जायगोट' पूरे शरीर का सुक्ष्म प्रारूप होता है। उसमें सुक्ष्म रूप मौजूद जीन्स जीव के सम्पूर्ण शरीर का नियत मानचित्र लिये होता है। जीन्स में स्थित डीएनए में यह नियत होता है कि कौनसी कोशिका आगे चलकर शरीर का कौनसा अंग बनायेगी। कौनसी कोशिकाएं हृदय की मांसपेशिया बनायेगी और कौनसी अन्य तन्तु। इसी प्रकार मानव के मस्तिष्क के हजारों क्रियाकलापों के लिए अलग-अलग कोशिकाएं निश्चित होती है। लेकिन होती हैं सब माता-पिता के जीन्स के

डीएनए से ही। उन्हीं का जो प्रतिरूप बनता है उसे पुनर्जन्म ही कहा जाएगा। इसे भारतीय मनीषियों ने प्रारब्ध कहा। जिसे बाद के काल में लोक ने सामान्य जन को समझाने के लिये अलौकिक बना दिया।

आष्चर्य होता हैं कि माता–पिता की डीएनए की भौतिक मात्रा सूई की नोक पर समाने जितनी भी नहीं होती है। यही भारतीय मनीषियों की सूक्ष्म शरीर की अवधारणा है। डीएनए में अपनी प्रतिकृति बनाने की स्वयंसिद्ध क्षमता होती है। हर अंग प्रत्यंग की कार्य क्षमता अनुरूप विविध संरचना। अपषिष्ट विसर्ग के लिए गुर्दे, पाचन के लिए आंते, विष निवारण और प्रोटीन बनाने को लिवर, रक्त संचालन के लिए दय, प्राणवायु के लिए फेफड़े, चेतन और अवचेतन प्रक्रियाओं द्वारा पूरे शरीर के संचालन के लिए मस्तिष्क, और हार्मोन द्वारा रसायनिक संचालन के लिए अष्टचक्र ऐन्डोक्राइनस। चलने फिरने के लिए मांसपेषियां, भारवहन के लिए हडिडयां और उनमें स्थित रक्त बनाने के लिए अस्थिमज्जा या बोनमेरो। रक्त कोषिकाओं का जीवन काल निश्चित होता है, उसके बाद वे नष्ट हो जाती है। उनके पुनर्भरण के लिए करोडों रक्त कोषिकाओं का निर्माण प्रतिदिन अस्थिमज्जा करती है। शरीर की सुरक्षा के लिए माता पिता से मिली रक्षा प्रणाली होती है। यह अगर ना हो तो प्राणी जीवित ही न बचे। उसके लिए माता–पिता के विषिष्ट वंषाणु अस्थिमज्जा में मौजूद होते है। शरीर का निर्माण, उसका संचालन, उसके सुरक्षा और प्रजाती की निरंतरता के लिए प्रजनन व्यवस्था सब माता–पिता की देन है, उनके वंषाणुओं द्वारा।

जगत में हर प्राणी जिसमें मनुष्य भी शामिल है, के दो जैविक धर्म होते हैं। एक अपने शरीर को बनाये रखना और दूसरा अपनी प्रजाति को बनाये रखना। शरीर को बनाये रखने का हर कर्म, खाने पीने से लेकर अपनी रक्षा करने का काम जीन्स ही करते है। अपनी प्रजाति को बनाये रखने के लिए जनन कोशिकाएं – माता-पिता की मात्र दो जनन कोशिकाएं। प्राणी का जन्म इन्ही कोशिकाओं से होता है। हर जन्म माता–पिता का पुनर्जन्म ही होता है। हमारा शरीर हमारा जैविक पुनर्जन्म है। शरीर की कोशिका उन्ही की है। जीवन संचालन माता–पिता के जीन्स ही करते हैं।

अपने पुनर्जन्म से ही प्राणी अपनी प्रजाति को बनाये रखता है। यह प्रकृति का शाश्वत नियम है। संसार इसी से चलता है। अगर शाश्वत कुछ है तो यही वंषाणु (जीन्स)। आत्मा की अवधारणा की भी इसी से व्याख्या की जा सकती है।

हमारे शरीर में अपना अर्जित कुछ नहीं होता है, वह हमें विरासत में मिला है, पैतृक विरासत, जो सभी को अपने माता–पिता से मिलती है। वंश (प्रजाति) इन्ही वंशाणुओं से चलता है। हमारी प्रत्येक कोशिका में जैविक घड़ी मौजूद है, घड़ी बंद, उम्र खत्म। उससे पहले प्रजनन कर अपने को शाश्वत बनाना ही जैविक धर्म है। ❑

❑

देबारती धर

मुक्त अभिव्यक्ति का आभास गहरी संरचनात्मक निर्भरता को छुपाता है।

❑

आज किसी भी सार्वजनिक जगह से गुज़रें, तो नज़ारा एक जैसा ही होता है। हवाई अड्डे, मेट्रो स्टेशन, यूनिवर्सिटी के गलियारे, पार्क हर जगह, लोग चमकती हुई स्क्रीन में खोए रहते हैं, उनके अंगूठे उसी जानी–पहचानी, लगभग सम्मोहित कर देने वाली लय में चलते रहते हैं। पास के इयरफ़ोन से छनकर आती आवाज़ को ध्यान से सुनें, तो आपको सिर्फ़ संगीत ही नहीं सुनाई देगा। आपको आवाज़ें सुनाई देंगी जो ज़ोरदार, लगातार और अपनी राय थोपने वाली होती हैं ˉ जो आपको ठीक–ठीक बताती हैं कि दुनिया के बारे में आपको कैसा महसूस करना चाहिए। हमें एक नए तरह के डोपामाइन की लत लग गई है: दूसरों की राय को लगातार लेते रहने की लत।

एक ऐसे व्यक्ति के तौर पर जो लोकतांत्रिक भागीदारी के संदर्भ में संचार का अध्ययन करता है, मैंने इस बदलाव को बढ़ती चिंता के साथ होते देखा है। यह सिर्फ़ राजनीतिक व्यवहार में आया बदलाव नहीं है। यह इस बात में एक बुनियादी बदलाव को दिखाता है कि सार्वजनिक चर्चा कैसे काम करती है ˉ और यह हमारी स्वतंत्र रूप से सोचने की क्षमता के साथ क्या कर रही है।

सालों तक, मीडिया अध्ययन में मुख्य चिंता 'डिजिटल डिवाइड' की

लेखिका हैदराबाद स्थित इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट टेक्नोलॉजी में रणनीति और सामान्य प्रबंधन की सहायक प्रोफेसर हैं। सं.

थी: उन लोगों के बीच का फ़ासला जिनके पास जानकारी तक पहुँच थी और जिनके पास नहीं थी। वह समस्या अब पूरी तरह से उलट गई है। आज, हम जानकारी की कमी से नहीं जूझ रहे हैं। हम तो उसमें डूब रहे हैं। और विरोधाभास यह है कि जानकारी तक ज़्यादा पहुंच होने से ज़्यादा समझदार नागरिक नहीं बने हैं, बल्कि, ज़्यादा निर्भर नागरिक बने हैं।

दशकों तक, जनसंचार को कर्ट लेविन की 'गेटकीपिंग थ्योरी' (द्वारपाल सिद्धांत) ने आकार दिया यह विचार कि संपादक, पत्रकार और मीडिया संस्थान यह तय करते थे कि जनता तक कौन सी जानकारी पहुंचेगी और उसे किस तरह से पेश किया जाएगा। उन द्वारों ने, अपनी सभी कमियों के बावजूद, एक तरह का अनुशासन बनाए रखा था। आज, उन द्वारों को सिर्फ़ नज़रअंदाज़ ही नहीं किया गया है। उन्हें पूरी तरह से ढहा दिया गया है। उनकी जगह अब 'क्रिएटर इकॉनमी' (रचनाकार अर्थव्यवस्था) ने ले ली है: लाखों स्वतंत्र टिप्पणीकार, इन्फ़्लुएंसर और खुद को विश्लेषक घोषित करने वाले लोग, जो अपने खाली कमरों और कामचलाऊ स्टूडियो से लाखों फ़ॉलोअर्स तक अपनी बात पहुंचा रहे हैं। ऊपरी तौर पर, यह एक लोकतांत्रिक जीत जैसा लगता है। अब संपादकीय एकाधिकार नहीं रहा। अब कोई कॉर्पोरेट 'गेटकीपर' यह तय नहीं करता कि कौन सी खबरें मायने रखती हैं। बस आम लोगों की तरफ़ से सीधी, बिना किसी रोक-टोक के अपनी बात कहने की आज़ादी है। सोशल मीडिया ने इसे और भी ज़्यादा अराजक बना दिया है: यह एक ऐसा अंतहीन प्रवाह बन गया है, जहां स्मार्टफ़ोन रखने वाला कोई भी व्यक्ति राष्ट्रीय घटनाओं का व्याख्याकार बन सकता है, और बिना किसी संपादकीय निगरानी, तथ्यों की जांच या जवाबदेही के, हज़ारों फ़ॉलोअर्स तक अपनी राय तुरंत पहुंचा सकता है। एक और गहरी समस्या है वह है इस माध्यम का अपना स्वभाव। मार्शल मैकलुहान का प्रसिद्ध कथन कि माध्यम ही संदेश है हमें याद दिलाता है कि महत्वपूर्ण केवल स्क्रीन पर मौजूद सामग्री ही नहीं है, बल्कि स्क्रीन हमारे चिंतन पर क्या प्रभाव डालती है, यह भी मायने रखता है। ध्यान केंद्रित करने की अर्थव्यवस्था द्वारा संचालित स्मार्टफोन को इस बात की परवाह नहीं होती कि कोई राय सटीक है या सूक्ष्म। इसका तर्क पूरी तरह से जुड़ाव के लिए अनुकूलित है: गति, भावनात्मक उत्तेजना और बार-बार देखने की बाध्यता। जब राजनीतिक विमर्श इस वातावरण में प्रवेश करता है, तो उसे एल्गोरिदम की मांगों के अनुरूप होना पड़ता है।

पारंपरिक मीडिया, अपनी कई असफलताओं के बावजूद, प्राकृतिक सीमाओं के भीतर काम करता था। एक अखबार में पृष्ठों की संख्या निश्चित होती थी। प्रसारण समय समाप्त होने पर समाप्त हो जाता था। इन सीमाओं ने मानव मन को कुछ अनमोल दिया: एक विराम। संदेह, चिंतन और शांत मनन के लिए स्थान। डिजिटल प्लेटफॉर्म पर ऐसी कोई सीमा नहीं है। वे अनंत स्क्रॉलिंग और निरंतर उत्तेजना के लिए

निर्मित हैं। इस वातावरण में, जटिल सामाजिक-राजनीतिक मुद्दे अपने मूल रूप में जीवित नहीं रह सकते। उन्हें संक्षिप्त, भावनात्मक रूप से आवेशित और तुरंत समझ में आने वाली सामग्री में संकुचित करना पड़ता है। प्लेटफॉर्म आक्रोश, पूर्ण विश्वास और वैचारिक निश्चितता को पुरस्कृत करता है। यहीं पर डिजिटल सार्वजनिक क्षेत्र की संरचना मनोवैज्ञानिक रूप से खतरनाक हो जाती है। मनुष्य स्वभाव से संज्ञानात्मक असुविधा से बचने की प्रवृत्ति रखता है। हम ऐसी आवाज़ें खोजते हैं जो हमारे मौजूदा भय और विश्वासों की पुष्टि करती हैं। जुड़ाव को अधिकतम करने के लिए डिज़ाइन किए गए एल्गोरिदम, इन्हीं प्रवृत्तियों का फायदा उठाने में असाधारण रूप से कुशल हो गए हैं। वे हमें ऐसी सामग्री परोसते हैं जो हमारे पहले से मौजूद विचारों से मेल खाती है, और वे हमें व्यक्तिगत प्रतिध्वनि कक्षों में गहराई से खींचते हैं जो हमें पूरी दुनिया का आभास कराते हैं। इसका परिणाम यह है कि लोकतंत्र के प्रति नागरिकों के दृष्टिकोण में धीरे-धीरे लेकिन गहरा परिवर्तन हो रहा है। चिंताजनक विडंबना यह है कि सबसे अधिक राय से प्रभावित व्यक्ति अक्सर खुद को सबसे अधिक जानकार मानते हैं।

कोई व्यक्ति जब प्रतिदिन घंटों राजनीतिक पॉडकास्ट, यूट्यूब कमेंट्री और सोशल मीडिया थ्रेड्स का उपभोग करता है तब वह वास्तव में चिंतन को बाहरी स्रोतों पर निर्भर बना रहा होता हैं। सत्यापित तथ्यों को एकत्रित करने और स्वतंत्र निर्णय लेने के बजाय, वे उन डिजिटल टिप्पणीकारों की पूर्व-निर्मित व्याख्याओं को आत्मसात करता है जिन्होंने उसके लिए पहले ही चिंतन और भावना व्यक्त कर दी है।

यह व्यवस्था रचनाकारों के लिए भी एक विचित्र जाल पैदा करती है। जो प्रभावशाली व्यक्ति प्रामाणिक और स्वतंत्र प्रतीत होता है, वह शायद ही कभी वास्तव में स्वतंत्र होता है। अपने दर्शकों के वैचारिक आराम क्षेत्र को आप चुनौती दें तो आपके आंकड़े गिर जाते हैं, आपकी आय घट जाती है और एल्गोरिदम आपकी सामग्री को कम प्राथमिकता देता है। रचनाकार उन्हीं प्रतिध्वनि कक्षों के कैदी बन जाते हैं जिन्हें बनाने में उन्होंने मदद की है, और दृश्यता बनाए रखने के लिए लगातार अपनी बयानबाजी को बढ़ाने के लिए मजबूर हो जाते हैं।

मुक्त अभिव्यक्ति का आभास एक गहरी संरचनात्मक निर्भरता को छुपाता है। एक कार्यशील लोकतंत्र के लिए सर्वसम्मति की आवश्यकता नहीं होती है। इसके लिए, जैसा कि जुर्गन हैबरमास ने तर्क दिया था, वास्तविकता की एक साझा नींव की आवश्यकता होती है - एक सामान्य तथ्यात्मक आधार जिससे वास्तविक असहमति उत्पन्न हो सके। जब सार्वजनिक क्षेत्र लाखों एल्गोरिदम द्वारा निर्मित बुलबुलों में विभाजित हो जाता है, जिनमें से प्रत्येक की अपनी व्यक्तिगत सत्य की अवधारणा होती है, तो वह आधार कमजोर होने लगता है। हम अब साझा तथ्यों के आधार पर बहस नहीं कर रहे हैं। हम अपने चुने हुए डिजिटल प्रतीकों के माध्यम से अपनी पहचान प्रदर्शित कर रहे हैं। यहां असली खतरा ध्रुवीकरण नहीं है, जो राजनीति जितना ही पुराना है। इससे भी गहरा खतरा स्वतंत्र सोच का धीरे-धीरे क्षरण है - अनिश्चितता को स्वीकार करने, साक्ष्यों का धैर्यपूर्वक मूल्यांकन करने और किसी अन्य व्यक्ति द्वारा प्रदान किए गए भावनात्मक सहारे के बिना निष्कर्ष पर पहुंचने की हमारी क्षमता का धीरे-धीरे कमजोर होना।

अधिक आवाज़ें स्वतः ही बेहतर संवाद को जन्म नहीं देतीं। अभिव्यक्ति का लोकतंत्रीकरण विचार के लोकतंत्रीकरण की गारंटी नहीं देता। जब हर स्क्रॉल हमें बताता है कि क्या सोचना है, और हर व्यक्ति एक राय निर्माता बन जाता है, तो विचार करने योग्य प्रश्न यही बचाता है कि कौन बचा है जो खुद सोच सकता है?❑

इंसान स्वभाव से ही सतर्क होते हैं!

मनु जोसेफ़

मनु जोसेफ एक भारतीय पत्रकार और लेखक हैं। वे 'ओपन' मैगज़ीन के पूर्व संपादक हैं। उनके पहले उपन्यास 'सीरियस मेन' को 'द हिंदू लिटरेरी प्राइज़' और 'झएछ ओपन बुक अवॉर्ड' मिला और बाद में इसी नाम से इस पर एक फ़िल्म भी बनी। सं.

बहुतों को लगता है कि गरीब लोग बहुत भले लोग होते हैं। गरीबों की यह भलमनसाहत कोई गुण नहीं है यह उनकी मजबूरी का नतीजा है। समाज में, जिनके पास ताकत नहीं होती, वे काफी भले होते हैं। यह गरीबों पर थोपी गई हीन भावना की एक परत होती है, जो उनके अपने बहुत कम आत्म-सम्मान के कारण होती है। इसीलिए गरीबों के समर्पण में थोड़ा-बहुत दिखावा भी होता है।

यह सोचना जितना बेवकूफी भरा है कि गरीब लोग दूध और शहद से बने होते हैं – यानी वे पूरी तरह अच्छे और मासूम होते हैं। यह उतना ही बेबुनियाद है जितना अमीरों का यह शक – चाहे वह खुलकर ज़ाहिर किया जाए या मन में छिपा हो – कि गरीब लोग अपराध और हिंसा की ओर आसानी से झुक जाते हैं, और उन्हें सिर्फ़ धार्मिक या कानून के डर से ही काबू में रखा जा सकता है।

मेरी नज़र में, इंसान जन्म से न तो अच्छे होते हैं और न ही बुरे। मुझे लगता है कि वे स्वभाव से ही सतर्क होते हैं। यह सतर्कता किसी अच्छे गुण जैसी लगती है, या हो सकता है कि यह सचमुच एक अच्छा गुण ही हो। शायद इंसान होने का मतलब बस यही है - एक तरह की सतर्कता। जो भी हो, शांति बनाए रखने के लिए यह काफी है। गरीबों के लिए हिंसा से दूर रहने या हिंसा से नफ़रत करने के लिए यह काफी है। लेकिन यह भी सच है कि गरीबों को अन्य कई ताकतों के ज़रिए काबू में रखा जाता है। जैसे नैतिकता के बंधन, और उम्मीदों के वे वादे जो सोच-समझकर या अनजाने में गरीबों को नियंत्रित करने और उन्हें दायरे में रखने के लिए बनाए गये हैं।

. ज्यादातर देश असलियत से ज़्यादा अमीर दिखने की कोशिश करते हैं; लेकिन भारत, सबके सामने, असलियत में जितना अमीर है, उससे कहीं ज़्यादा गरीब दिखता है। भारत की नगरपालिकाओं से जुड़ी यह बदसूरती गरीबों को यह एहसास कराती है कि यह देश उनका है, और देश ने उन्हें पीछे नहीं छोड़ा है। सड़कों पर फैली अव्यवस्था और हमारे यहां आम तौर पर नागरिक व्यवस्था की कमी का भी यही असर होता है। दूसरी ओर, शहर की शानदार सुंदरता या पोस्ट-मॉडर्न डिज़ाइन, उस समाज के गरीबों को ज़रूरत से ज़्यादा बुरा महसूस कराती हैं, और उन्हें लगता है कि वे बेहतर लोगों की जागीर में घुसपैठ कर रहे हैं। विकसित अर्थव्यवस्थाओं और ऊपरी-मध्यम आय वाले देशों में फैली असंतोष की भावना के लिए, कुछ हद तक इमारतों की चकाचौंध को भी ज़िम्मेदार ठहराया जा सकता है।

अव्यवस्था और बदसूरती से मेरा कोई लगाव नहीं है। मुझे भारत की यह बात बिल्कुल पसंद नहीं है। मैं बस इतना कहता हूँ कि शांति बनाए रखने में इनकी भी भूमिका होती है, क्योंकि इंसानों की फितरत ही ऐसी है। जो काम भारत सक्षम कानूनी प्रणालियों के ज़रिए नहीं कर पाता, उसे वह अनौपचारिक तरीकों से पूरा कर लेता है।

आजकल लोग क्लास के बजाय पैसे की चाहत रखते हैं। वे पैसे की तारीफ़ करते हैं, भले ही वह पैसा दूसरों के पास ही क्यों न हो। जब सबसे अमीर भारतीय अंबानी ने दुनिया के सबसे महंगे घरों में से एक, मुंबई के बीचों-बीच सत्ताईस मंज़िला मॉडर्न महल बनवाया, तो जानकारों ने कहा कि इस तरह आम भारतीय का मज़ाक उड़ाना उनके लिए खुद को नुकसान पहुँचाने वाला है। लेकिन आम भारतीय को मज़ाक महसूस नहीं हुआ; उन्हें उम्मीद दिखी। यह एक ऐसी चीज़ का मंदिर था जिसके बारे में उन्हें लगता था कि वे भी उसे जमा कर सकते हैं। (मुंबई के पुराने अमीर करोड़पति ही अंबानी से नाराज़ थेक्योंकि उन्होंने उनके समुद्री नज़ारे कम कर दिए थे।) जैसा कि हम देखेंगे, एक गरीब देश में एक तरह की अश्लीलता खतरनाक होती है, लेकिन कुछ तरह की अश्लीलता में एक उम्मीद जगाने वाली क्वालिटी होती है।

गरीब लोग, जो अपने बच्चों की ज़िंदगी बेहतर बनाना चाहते हैं, वे शिक्षा के असरदार विचार से जुड़ जाते हैं। जो लोग ऊंचे दर्जे की नौकरियों की चाहत रखते हैं, उन्हें बहुत बाद में पता चलता है कि खेल-कूद में असाधारण प्रतिभा वाले लोगों को छोड़कर, बाकी मामलों में भौतिक सफलता का संबंध मुख्य रूप से सामाजिक वर्ग से होता है। फिर भी, शिक्षा के ज़रिए उन्हें शामिल किया जाना उनके लिए फायदेमंद होता है। उनकी ज़िंदगी कुछ हद तक बेहतर हो जाती है क्योंकि आधुनिक आर्थिक व्यवस्था इस तरह बनी है कि पढ़े-लिखे लोगों को फायदा मिले। नतीजतन, गरीब एक ऐसा खेल खेलते हैं जिसमें सारे पत्ते रईस लोगों के हाथ में होते हैं। उन्हें लगता है कि अगर वे कुछ खास काम करें और नियमों का पालन करें, तो उन्हें बेहतर ज़िंदगी जीने का मौका मिलेगा। यह बात पूरी तरह गलत भी नहीं है। हालांकि, गरीब लोग हार्ट सर्जरी, कॉर्पोरेट लॉ, इन्वेस्टमेंट बैंकिंग या पूरे स्टार्ट-अप कल्चर जैसे फायदेमंद क्षेत्रों में अमीरों की जगह नहीं ले सकते, क्योंकि इन क्षेत्रों में सामाजिक वर्ग बहुत मायने रखता है। लेकिन अमीर लोग कई अन्य क्षेत्रों को छोड़ते रहते हैं क्योंकि वे नए पेशों, बौद्धिक कामों या बेरोज़गारी के ऐसे रूपों की ओर बढ़ जाते हैं जिन्हें एक तरह से आकर्षक या आदर्श माना जाता है। गरीबों में से पढ़े-लिखे लोग उन जगहों को भरते हैं जिन्हें अमीरों ने खाली किया है और आगे बढ़ गए हैं।

बहुत से लोग सोचते हैं कि गुस्से में भरे गरीब लोग अपने घरों से जुगाड़ू हथियार लेकर निकलेंगे और अमीरों और क्रांति करके शासक वर्ग को उखाड़ फेंकेंगे। लेकिन मैं ऐसी किसी क्रांति के बारे में नहीं सोच सकता जहाँ असल में ऐसा हुआ हो, कम से कम इस तरह से तो नहीं। यहाँ तक कि फ्रांसीसी क्रांति भी, जिससे हमें अमीरों के खिलाफ़ पिचफ़र्क (खेती के औज़ार) लेकर लोगों के उठने का ख्याल आता है, वैसी बिल्कुल नहीं थी।

हर क्रांति कुलीन वर्ग के दूसरे दर्जे के लोगों द्वारा अपने दमनकारी को हराने के लिए रची और प्रायोजित की जाती है, जो नाममात्र के लिए समानता और निष्पक्षता जैसी चीज़ों के हित में होती है। पूँजीवाद, असमानता, तानाशाही और पुरुषों के खिलाफ़ युद्ध मुख्य रूप से शीर्ष 2 प्रतिशत लोगों द्वारा शीर्ष 1 प्रतिशत लोगों के खिलाफ़ लड़े गए युद्ध हैं, जिसमें बाकी सभी लोग दूसरे दर्जे के लोगों के मकसद में शामिल हो जाते हैं।

यह बात भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के बारे में भी सच है। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के ज़्यादातर बड़े नेता ऊंची जाति के थे, जिन्हें सामाजिक तौर पर अंग्रेज़ों से नीचे का दर्जा मिला हुआ था। हम स्वतंत्रता आंदोलन को इस तरह भी देख सकते हैं कि कुलीन वर्ग ने आम लोगों को एकजुट करने और अपने दमनकारी शासक को हराने के लिए नैतिकता का सहारा लिया।

आज हम हर तरह की एक्टिविज़्म में यह बात देखते हैं। यह हमेशा नैतिक होती है, हमेशा एक बेहतर दुनिया के लिए होती है, और हमेशा एलीट क्लास के एक हिस्से की अपने दमन करने वालों के ख़िलाफ़ लड़ाई होती है, जिसे वे दूसरे लोगों के ज़रिए लड़ते हैं। क्रांतियों को चलाने वाले कुलीन लोग अक्सर धोखेबाज़ नहीं होते। उन्हें लगता है कि वे अपने फ़ायदे के लिए नहीं, बल्कि समझदारी भरी हमदर्दी के कारण ऐसा कर रहे हैं। इसीलिए वे इतने असरदार होते हैं। यही वजह है कि इतने सारे करोड़पति, एक बेहतर दुनिया के लिए अरबपतियों के ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं। और, कुछ मायनों में, दुनिया बेहतर होती भी है। ❑

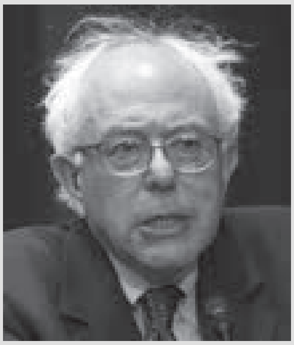

❑

बर्नी सैंडर्स

अमेरिका के वरमोंट का प्रतिनिधित्व करने वाले स्वतंत्र सीनेटर इस आलेख में एक वाजिब सवाल उठाया रहे हैं। सं.

एआई लोगों का है, अरबपतियों का नहीं !

❑

आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस लगभग निश्चित रूप से दुनिया के इतिहास में सबसे ज़्यादा बदलाव लाने वाली टेक्नोलॉजी होगी। यह हर पुरुष, महिला और बच्चे की ज़िंदगी पर गहरा असर डालेगी। यह अर्थव्यवस्था, लोकतंत्र, भावनात्मक भलाई, पर्यावरण और जिस तरह से हम अपने बच्चों को पढ़ाते और पालते-पोसते हैं, उनमें अकल्पनीय बदलाव लाएगी ˉ और ला भी रही है। इसके अलावा, एक बहुत ही असली डर यह भी है कि जैसे-जैसे एआई इंसानों से ज़्यादा स्मार्ट होता जाएगा, वह आखिरकार आज़ादी से काम कर सकता है, जिसके संभावित रूप से विनाशकारी नतीजे हो सकते हैं।

तो फिर, सवाल यह नहीं है कि क्या एआई दुनिया को बदलेगा। वह बदलेगा ही। सवाल यह है कि, उस भविष्य का मालिक और नियंत्रक कौन होगा? इससे किसे फ़ायदा होगा, और किसे नुकसान? क्या एआई का इस्तेमाल काम करने वाले परिवारों की ज़िंदगी को बेहतर बनाने के लिए किया जाएगा? क्या यह हमारे जीवन की गुणवत्ता को बेहतर बनाएगा? क्या यह हमें गरीबी खत्म करने, जीवन प्रत्याशा बढ़ाने और जलवायु संकट को हल करने में मदद करेगा? या फिर मानवता का भविष्य मुट्ठी भर अरबपतियों द्वारा तय किया जाएगा, जिन्होंने बिना किसी लोकतांत्रिक इनपुट के एआई को बढ़ावा दिया और विकसित किया है, और जो आज की तुलना में और भी ज़्यादा अमीर और शक्तिशाली बनने वाले हैं? यही वह चुनाव है जो हमारे सामने है।

आइए हम साफ़-साफ़ बात करें। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस अचानक से कहीं से प्रकट नहीं हो गया। जेनरेटिव एआई टूल्स द्वारा इस्तेमाल किया जाने वाला डेटा और भाषा अचानक से सैम ऑल्टमैन के दिमाग या एलन मस्क की कल्पना से नहीं निकल आए। एआई हमारी सामूहिक बुद्धिमत्ता पर आधारित है। हमारी किताबें, गाने, कलाकृतियां, पत्रकारिता, कंप्यूटर

कोड, वैज्ञानिक शोध, वीडियो, बातचीत, तस्वीरें और विचार जो पीढ़ियों से चले आ रहे हैं, सब पर। यह सिर्फ़ बर्नी सैंडर्स की राय नहीं है। ओपनआई के प्रमुख ऑल्टमैन के अनुसार,एआई मॉडल्स को हमारे सामूहिक अनुभव, ज्ञान और मानवता की सीख पर प्रशिक्षित किया गया था। ज़्यादातर मामलों में, टेक दिग्गजों ने इस ज्ञान को बिना अनुमति, बिना श्रेय दिए और बिना किसी मुआवज़े के अपने एआई मॉडल्स में डाल दिया है। दूसरे शब्दों में, लाखों लोगों लेखकों, कलाकारों, संगीतकारों, पत्रकारों, शिक्षकों, वैज्ञानिकों और आम नागरिकों के रचनात्मक काम को दुनिया के कुछ सबसे अमीर लोगों ने असल में चुरा लिया है। अब समय आ गया है कि हम इसे वापस हासिल करें। चूंकि एआई मानवता के सामूहिक ज्ञान पर आधारित है, इसलिए इससे जो धन पैदा होता है, उसका फ़ायदा मानवता को ही मिलना चाहिए। सिर्फ़ मिस्टर मस्क, मिस्टर ऑल्टमैन, डारियो अमोदेई और दूसरे बड़े दिग्गजों को ही नहीं, जिनकी कंपनियां इस इंडस्ट्री पर छा जाने की स्थिति में हैं। और न ही सिर्फ़ सिलिकॉन वैली के वेंचर कैपिटलिस्ट या वॉल स्ट्रीट के मनी मैनेजर, जो बिना किसी शक के एआई को दौलत कमाने वाली अगली बड़ी मशीन के तौर पर देखते हैं।

मैं जल्द ही 'अमेरिकन एआई सॉवरेन वेल्थ फंड एक्ट' पेश करने वाला हूं। यह कानून जनता को हमारे देश की सबसे बड़ी एआई कंपनियों में सीधे मालिकाना हक देगा। कैसे? यह एक बार लगने वाले 50 प्रतिशत टैक्स के ज़रिए एक सॉवरेन वेल्थ फंड बनाएगा यह टैक्स ओपनएआई, एंथ्रोपिक, एक्सएआई और दूसरी कंपनियों के मुनाफ़े पर नहीं लगेगा, बल्कि इससे कहीं ज़्यादा कीमती चीज़ से चुकाया जाएगा: उनके शेयरों से।

अगर यह कानून पास हो जाता है, तो यह दो बहुत ज़रूरी काम करेगा। पहला, यह जनता को इस टेक्नोलॉजी के भविष्य को तय करने में सीधे तौर पर शामिल करेगा। अब एआई का भविष्य और उससे इंसानी ज़िंदगी में आने वाला बदलाव, मुट्ठी भर 'बिग टेक' के बड़े लोगों के इशारे पर नहीं चलेगा। फ़ेडरल सरकार के पास अपने वोटिंग शेयरों और हर कंपनी के बोर्ड में बराबर की नुमाइंदगी के ज़रिए, ऐसे फ़ैसलों को रोकने की ताकत होगी जो हमारे नागरिकों को नुकसान पहुँचाते हैं, और ऐसी नीतियों को बढ़ावा देने की ताकत होगी जो उनके फ़ायदे की हों।

दूसरा, यह कानून इस बात की गारंटी देगा कि एआई से होने वाली अरबों-खरबों डॉलर की कमाई का इस्तेमाल हम सभी की ज़िंदगी को बेहतर बनाने के लिए हो न कि सिर्फ़ दुनिया के सबसे अमीर लोगों को और भी ज़्यादा अमीर बनाने के लिए। अगर बड़ी एआई कंपनियां उतनी ही तेज़ी से बढ़ती रहीं, जितनी की कई जानकार उम्मीद कर रहे हैं, तो सॉवरेन वेल्थ फंड की कीमत भी बढ़ेगी - और इसके साथ-साथ अमेरिकी लोगों को मिलने वाले फ़ायदे भी बढ़ेंगे।

यह कोई नया आइडिया नहीं है। इसे कई जानकारों ने पहले भी सुझाया है। अमेरिका की कुछ जानी-मानी एआई कंपनियों ने भी इसका समर्थन किया है। मिसाल के तौर पर, ओपनएआई ने हाल ही में एक पब्लिक वेल्थ फंड बनाने का प्रस्ताव रखा था, जो हर नागरिक को - यहाँ तक कि उन लोगों को भी जिन्होंने शेयर बाज़ार में कोई निवेश नहीं किया है एआई से होने वाली आर्थिक तरक्की में हिस्सेदारी देगा। अमोदेई की अगुवाई वाली कंपनी एंथ्रोपिक ने भी इसी तरह एआई में हिस्सेदारी वाले राष्ट्रीय सॉवरेन वेल्थ फंड बनाने का प्रस्ताव दिया था। एक्सएआई चलाने वाले मस्क ने लिखा था, फ़ेडरल सरकार द्वारा जारी किए गए चेक के ज़रिए सभी को 'ज़्यादा आमदनी' देना ही, एआई की वजह से होने वाली बेरोज़गारी से निपटने का सबसे अच्छा तरीका है।

दुनिया भर में ऐसे दर्जनों सॉवरेन वेल्थ फंड मौजूद हैं, जो यह पक्का करते हैं कि आम लोगों को देश की दौलत का फ़ायदा मिले। लेकिन सिद्धांत सीधा-सा है: जब कोई सार्वजनिक संसाधन दौलत पैदा करता है, तो उस दौलत में जनता का भी हिस्सा होना चाहिए।

एआई एक ऐसे सार्वजनिक संसाधन पर बनाया जा रहा है जो तेल से कहीं ज़्यादा कीमती है। यह इंसानियत का जमा किया हुआ ज्ञान, रचनात्मकता और मेहनत है। एआई का भविष्य और इंसानियत की किस्मत सिलिकॉन वैली में बंद दरवाज़ों के पीछे तय नहीं होनी चाहिए। इसे उन अरबपतियों के इशारे पर नहीं चलना चाहिए जो अपनी ताकत और मुनाफ़ा ज़्यादा से ज़्यादा बढ़ाना चाहते हैं। इसे मज़दूरों, माता-पिता, शिक्षकों, कलाकारों, वैज्ञानिकों, समुदायों और सामान्य लोगों द्वारा तय किया जाना चाहिए। यह हमारा भविष्य है। इसे हमें ही तय करना होगा।❑

टिप्पणी

उत्तर पुस्तिकाओं का डिजिटल मूल्यांकन

उच्च शिक्षा में प्रशासनिक ओहदों पर रह चुकी लेखिका उत्तर पुस्तिकाओं की डिजिटल जांच पर उठती आशंकाओं पर टिप्पर्णी कर रही है। सं.

डॉ. लता व्यास

केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड द्वारा कक्षा 12 की परीक्षा में पहली बार लागू की गई ऑन-स्क्रीन मार्किंग प्रणाली ने देश की सबसे बड़ी मूल्यांकन व्यवस्था पर कई नए सवाल खड़े कर दिए हैं। डिजिटल मूल्यांकन की इस तकनीकी महत्वाकांक्षा ने छात्रों के भविष्य, पारदर्शिता और बोर्ड की विश्वसनीयता पर सवालों पर गंभीर विमर्श होना जरूरी है। ऐसा व्यवस्था पर भरोसे बनाये रखने के लिये भी जरूरी है।

शिक्षा में आधुनिक तकनीक का समावेश स्वागत योग्य है, लेकिन जब यह प्रयोग लाखों छात्रों के करियर की कीमत पर किया जाए, तो यह एक गंभीर प्रशासनिक विफलता बन जाता है। इस वर्ष की डिजिटल जांच में अनेक विसंगतियां सामने आई हैं, जैसे उत्तर पुस्तिकाओं की अदला-बदली। इस पूरे संकट का सबसे गंभीर पहलू कॉपियों की मैपिंग में हुई लापरवाही है। कई मामले सामने आए, जहां छात्रों को उनके रोल नंबर पर किसी दूसरे छात्र की कॉपी थमा दी गई। बोर्ड द्वारा इस गलती को स्वीकार करना यह साबित करता है कि डेटाबेस प्रबंधन और बारकोड लिंकिंग के स्तर पर भारी चूक हुई है। लाखों कॉपियों को जल्दबाजी में स्कैन करने के कारण शिक्षकों को कंप्यूटर स्क्रीन पर धुंधली लिखावट और गायब पन्ने दिखाई दिए। कई मामलों में छात्रों द्वारा बनाए गए चित्र और गणितीय स्टेप्स स्क्रीन पर ठीक से दिखाई ही नहीं दिए, जिससे मूल्यांकन प्रभावित हुआ। शिक्षा मंत्रालय के अनुसार, 13,000 से अधिक कॉपियों को अंततः मैन्युअल रूप से जांचना पड़ा।

पारंपरिक रूप से सीबीएसई विज्ञान और गणित जैसे विषयों में 'स्टेप मार्किंग' (हर चरण पर अंक) के लिए जाना जाता है। छात्रों का आरोप है कि डिजिटल टूल का उपयोग करते समय शिक्षकों ने केवल अंतिम उत्तरों पर ध्यान केंद्रित किया, जिससे योग्य छात्रों के अंक अप्रत्याशित रूप से कम हो गए, और इस वर्ष पास प्रतिशत गिरकर 85.20 प्रतिशत हो गया, जो महामारी के बाद का सबसे निचला स्तर है।

छात्रों ने जब कॉपियों की प्रति और पुनर्मूल्यांकन के लिए आवेदन करना चाहा, तो अत्यधिक ट्रैफिक के कारण सीबीएसई का भुगतान पोर्टल पूरी तरह ध्वस्त हो गया। तकनीकी गड़बड़ी के कारण फीस कटौती में गड़बड़ियां हुईं और आवेदन की तारीखें बार-बार बढ़ानी पड़ीं।

डिजिटल मूल्यांकन को यदि भविष्य में पारदर्शी और त्रुटिहीन बनाना है, तो कुछ सुधार अनिवार्य हैं। पायलट प्रोजेक्ट का कड़ाई से पालन होना जरूरी है। बोर्ड के शासी निकाय ने पहले ही सुझाव दिया था कि इस प्रणाली को देश भर में लागू करने से पहले चुनिंदा क्षेत्रों में इसका सीमित परीक्षण किया जाना चाहिए, मगर इसे नजरअंदाज किया गया।

कंप्यूटर स्क्रीन पर लगातार मूल्यांकन करने के लिए शिक्षकों को लंबी ट्रेनिंग और बेहतर इंफ्रास्ट्रक्चर की आवश्यकता है। कॉपियों को डिजिटल सर्वर पर अपलोड करने से पहले स्वचालित गुणवत्ता नियंत्रण (एआई-आधारित ब्लर डिटेक्शन) से गुजारा जाना चाहिए।

तकनीक का उद्देश्य मानवीय त्रुटियों को कम करना होना चाहिए, न कि छात्रों के लिए मानसिक तनाव और अनिश्चितता का कारण बनना।❑

'लहर' और उसके संपादक की याद

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति में पिछले दिनों लहर और प्रकाश जैन : एक स्वर्णिम अध्याय विषय पर गंभीर संवाद हुआ। 'लहर' एक ऐसी साहित्यिक पत्रिका थी, जो हिंदी साहित्य के विविध वैचारिक और रचनात्मक आंदोलनों का मंच बन गई। यह वह समय था जब लघु पत्रिका आंदोलन अपने स्वर्ण युग में था और जिसने हिंदी साहित्य में वैचारिक हस्तक्षेप की महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

प्रगतिशील लेखक संघ, जयपुर के संयोजन में समिति के इस आयोजन के लेखक समीक्षक राजाराम भादू ने मुख्य वक्तव्य दिया कार्यक्रम के मुख्य अतिथि वरिष्ठ पत्रकार-लेखक ओम थानवी थे जबकि कार्यक्रम की अध्यक्षता वरिष्ठ साहित्यकार एवं आलोचक प्रो. मोहन श्रोत्रिय ने की। अध्येता डॉ. सुभाष धायल ने ''लहर' का प्रकाश और प्रकाश की 'लहर शोधपत्र पढ़ा। और

'लहर' के साँथपक की जन्मशती पर हो रहे कार्यक्रमों की आयोजन समिति के सदस्य अनंत भटनागर के साथ प्रकाश जैन के पुत्र सुधीर जैन और संगीत जैन भी मौजूद थे।❑

समिति में 'कथा तरंग' पुरस्कार समारोह

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति में एक अत्यंत आत्मीय माहौल में हुए समारोह में 'कथा तरंग-वर्ष 2026' का 'किशन शर्मा स्मृति पुरस्कार' कथाकार सुभाष दीपक को उनकी एक लघु कहानी 'ज़िद' के लिए प्रदान किया गया।

समारोह में गंभीर रचनाकार-समीक्षक हेमन्त शेष विशिष्ट अतिथि के रूप में मौजूद थे जबकि कलाकार-लेखक-पत्रकार विनोद भारद्वाज ने जलसे की अध्यक्षता की। बहुमुखी प्रतिभा के धनी रचनाकार, अशोक आत्रेय, ने पुरस्कार विजेता कहानीकार को नील से रंगा दुपट्टा ओढ़ाया उन्हें ताम्रपत्र पर उकेरा प्रशस्ति पत्र, तथा नील से रंगे पारदर्शी बक्से में रखा अशोक चिन्ह स्मृति स्वरूप दिया गया।

वरिष्ठ लेखिका व प्राध्यापक श्रीमती उमा जोशी ने अपना पंचतंत्र कथाओं का सचित्र अनुपम काफी टेबल ग्रंथ कथाकार सुभाष दीपक को भेंट किया।❑

राजस्थानी लोक संगीत को सहेजने वाले मालू नहीं रहे

राजस्थानी लोक संगीत की महक विश्व भर में पहुंचाने वाले केशरी चंद मालू, जो के. सी. मालू के नाम से ही विख्यात रहे, का गत 13 जुलाई को असामयिक निधन हो गया।

वे जीवन भर राजस्थान के संगीत, लोकसंस्कृति, समाजसेवा और सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए लगे रहे।

'वीणा समूह' के संस्थापक के रूप में मालू ने राजस्थान के समृद्ध लोकसंगीत को संरक्षित करने, प्रोत्साहित करने और देश-विदेश के श्रोताओं तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा लोक कलाकारों, गायकों, संगीतकारों और पारंपरिक कला विधाओं को सम्मानजनक मंच तथा विशिष्ट पहचान प्रदान की। राजस्थानी भाषा को संवैधानिक मान्यता दिलाने के लिए संघर्ष करने वालों की भी अग्रणी पंक्ति में वे थे।

वीणा समूह की कला, संस्कृति तथा पर्यटन को समर्पित मासिक पत्रिका 'स्वर सरिता' गुणीजनों तथा सामान्य दोनों पाठकों के लिये प्रिय प्रकाशन बनाए रखने में वे सफल रहे।

वे केवल एक सफल उद्योगपति और संगीतप्रेमी ही नहीं थे, बल्कि एक संवेदनशील समाजसेवी, लोकसंस्कृति के सच्चे संरक्षक, मार्गदर्शक और अनेक लोगों के लिए प्रेरणास्रोत भी थे। अनुशासन, विनम्रता, संस्कार और समर्पण उनकी शख्सियत का हिस्सा थे।❑

स्वत्त्वाधिकारी राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति द्वारा क्लासीफाइड प्रिण्टर्स, जयपुर में मुद्रित तथा 7-ए, झालाना संस्थान क्षेत्र, जयपुर-302004 से प्रकाशित। संपादक- राजेन्द्र बोड़ा

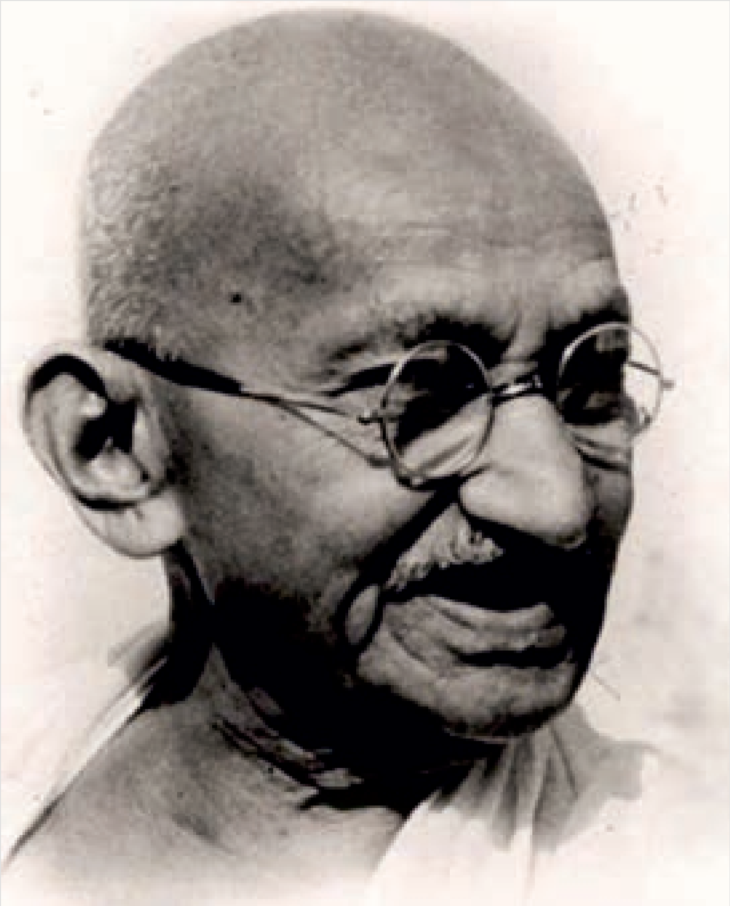

मेरे सपनों का भारत

महात्मा गांधी

❑

भारत की हर चीज मुझे आकर्षित करती है। सर्वोच्च आकांक्षाएं रखने वाले किसी व्यक्ति को अपने विकास के लिये जो कुछ चाहिए, वह सब उसे भारत में मिल सकता है। भारत अपने मूल स्वरूप में कर्म-भूमि है भोग-भूमि नहीं।

भारत दुनिया के उन इने-गिने देशों में से है, जिन्होंने अपनी अधिकांश पुरानी संस्थाओं को, यद्यपि उन पर अन्ध-विश्वास और भूल-भ्रांतियों की काई चढ़ गई है, कायम रखा है। साथ ही वह अभी तक अन्ध-विश्वास और भूल-भ्रांतियों की इस काई को दूर करने की और इस तरह अपना शुद्ध स्वरूप प्रकट करने की अपनी सहज क्षमता भी प्रगट करता है। उसके लाखों करोड़ों निवासियों के सामने जो आर्थिक कठिनाइयां खड़ी है, उन्हें सुलझा सकने की उसकी योग्यता में मेरा विश्वास इतना उज्ज्वल कभी नहीं रहा जितना आज है।

मेरा विश्वास है कि भारत का ध्येय दूसरे देशों के ध्येय से कुछ अलग है। भारत में ऐसी योग्यता है कि वह धर्म के क्षेत्र में दुनिया में सबसे बड़ा हो सकता है। भारत ने आत्मशुद्धि के लिये स्वेच्छापूर्वक जैसा प्रयत्न किया है, उसका दुनिया में कोई उदाहरण नहीं मिलता। भारत को फौलाद ले हथियारों की उतनी आवश्यकता नहीं है; वह दैवी हथियारों से लड़ा है और आज भी वह उन्हीं हथियारों से लड़ सकता है। दूसरे देश पशुबल के पुजारी रहे हैं। यूरोप में अभी जो भयंकर युद्ध चल रहा है, वह इस सत्य का एक प्रभावशाली उदाहरण है। भारत अपने आत्मबल से सबको जीत सकता है। इतिहास इस सच्चाई के चाहे जितने प्रमाण दे सकता है कि पशुबल आत्मबल की तुलना में कुछ नहीं है। कवियों ने इस बल की विजय के गीत गाये हैं, और ऋषियों ने इस विषय में अपने अनुभवों का वर्णन करके उसकी पुष्टि की है।

मैं भारत की भक्ति करता हूं, क्योंकि मेरे पास जो कुछ भी है वह सब उसी का दिया हुआ है। मेरा पूरा विश्वास है कि उसके पास सारी दुनिया के लिये एक संदेश है। उसे यूरोप का अंधानुकरण नहीं करना है। मेरा जीवन अहिंसा-धर्म के पालन द्वारा भारत की सेवा के लिये समर्पित है। मेरा देशप्रेम मेरे धर्म द्वारा नियंत्रित है। मैं भारत से उसी तरह बंधा हुआ हूं जिस तरह कोई बालक अपनी मां की छाती से चिपटा रहता है; क्योंकि मैं महसूस करता हूं कि उसके वातावरण में मुझे अपनी उच्चतम आकांक्षाओं की पुकार का उत्तर मिलता है।

मैं भारत को स्वतंत्र और बलवान बना हुआ देखना चाहता हूं। भारत की स्वतंत्रता से शांति और युद्ध के बारे में दुनिया की दृष्टि में जड़मूल से क्रांति हो जाएगी।

पाश्चात्य सभ्यता का मेरा विरोध असल में उस विचारहीन और विवेकहीन नक़ल का विरोध है, जो यह मानकर की जाती है कि एशिया-निवासी तो पश्चिम से आने वाली हरएक चीज की नक़ल करने जितनी ही योग्यता रखते हैं। मैं दृढ़तापूर्वक विश्वास करता हूं कि यदि भारत ने दुःख और आग की तपस्या में से गुजरने जितना धीरज दिखाया और अपनी सभ्यता पर – जो अपूर्ण होते हुए भी अभी तक काल के प्रवाह को झेल सकी है – किसी भी दिशा से कोई अनुचित आक्रमण न होने दिया, तो वह दुनिया की शांति और ठोस प्रगति स्थाई योगदान कर सकती है। ❑